प्रकीर्णक पुस्तकावली

राष्ट्र-भाषा की समस्या
और
हिंदुस्तानी आंदोलन

लेखक
श्रीरविशंकर शुक्ल

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द ३।)] सं० २००२ वि० [सादी २।।)
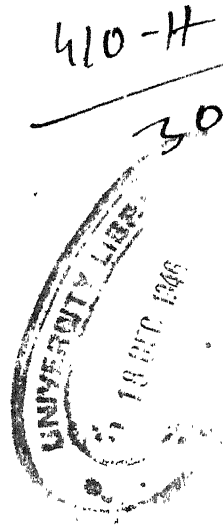
शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	३	अंतः प्रांतीय	अंतरप्रांतीय
१५	३	हिंद-शैली	हिंदी-शैली
२४	५	कि	कि वे
२५	१३	में	के
२५	१४	में	के
२५	१७	अरबी,	अरबी-
२६	५	अप्रतिशत	अ प्रतिशत
३२	२	त्तत्र-विशेष	क्षेत्र-विशेष
३८	की ❀ चिह्नित पाद-टिप्पणी पृष्ठ ३७ पर होनी चाहिए		
३९	१	भी	
४६	२२	अंतः प्रांतीय	अंतरप्रांतीय
५५	१८	को	का
८८	७-६	'लेने के .....घटता नहीं' को रेखांकित होना चाहिए	
६१	१७	है।	है,
६१	२०	तो,	तो
१००	३	?	है ?

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०६	२	आनेवाली	आनेवाली'
११७	१२	कही	ही
१२०	१२	श्रीरामनाथ	श्रीराजनाथ
१३२	८	साहिस्य	साहित्य
१३७	२	नमक	नामक
१३७	२०	पड़ेगी	पड़ेंगी
१५२	१५	रँतियाँ	रातियाँ
२०८	१८	प्रकारी	प्रकार
२१५	१	नवाब	नबाब
२१५	४	रोशनी	रौशनी
२१५	५	सुबह	सुभ
२२१	२०	ठयक्त	व्यक्त
२३८	२	का	को
२४३	३	हिंदुओं	हिंदि

परिशिष्ट

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३	८	प्रामर	प्राइम
३७	२१	समत	समस्त
४५	६	लिपियोंवाला,	लिपियोंवाला'

विषय-सूची

पहला भाग

दूसरा भाग

पहला भाग

राष्ट्र-भाषा की समस्या

I

राष्ट्र-भाषा की समस्या पर एक वैज्ञानिक दृष्टि

भारतवर्ष में बहुत-सी भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं। हमें एक राष्ट्र-भाषा की परम आवश्यकता है, जिसमें राष्ट्र का केंद्रीय और अंतःप्रांतीय व्यवहार हो सके। यह राष्ट्र-भाषा किसी प्रांतीय भाषा का स्थान नहीं लेगी, लेकिन इसे कम-से-कम प्रांतीय भाषाओं के समान उन्नत और समृद्ध होना पड़ेगा। एक ऐसी राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता सदा से रही है। प्राचीन काल में राष्ट्र-भाषा का स्थान संस्कृत को प्राप्त था, जिसमें देश-भर के विद्वान् विचार-विनिमय और अमर साहित्य की रचना करते थे। आधुनिक काल में यह स्थान बहुत कुछ अंशों में अँगरेज़ी को प्राप्त है। इस सचाई से आँख चुराना बेकार है। इसका कारण चाहे कुछ हो, लेकिन यह मानना पड़ेगा कि आज देश में एकता और राष्ट्रीयता की जो भावना दिखाई पड़ती है, उसका बहुत कुछ श्रेय अँगरेज़ी को है। बिना अँगरेज़ी की सहायता के हम एक दूसरे के इतने निकट कभी न आए होते, जितने आज हैं। यह बात इसके अतिरिक्त है कि हमें

अँगरेजी के साहित्य से जागृति की प्रेरणा मिली है। लेकिन यह स्पष्ट है कि यदि राष्ट्र को आगे बढ़ाना है, और राष्ट्र के करोड़ों निवासियों को एकता के सूत्र में बाँधना है, तो यह काम अँगरेजी नहीं कर सकती। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अगर हमें राष्ट्र के साहित्यिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के स्तर को अधिक नहीं, तो कम-से-कम अपनी वर्तमान ऊँचाई पर रखना है, तो हमें अँगरेजी के ही समान संपन्न, समृद्ध और परंपरा-युक्त राष्ट्र-भाषा चाहिए, और उसके पठन-पाठन को देश में अँगरेजी के समान ही व्यापक करना चाहिए। जो लोग सांप्रदायिक कठिनाइयों के कारण 'बेसिक' भाषा की बात करते हैं, वे या तो अँगरेजी के वर्तमान स्थान को बनाए रखना चाहते हैं, और इस प्रकार राष्ट्र की प्रगति में बाधक हैं, या वे राष्ट्र को फिर छिन्न-भिन्न होते देखना पसंद करते हैं। ऐसी 'बेसिक' राष्ट्र-भाषा तो देश ने अपने आप बना ली है—वह है 'लघु हिंदी'। अधिक समय नष्ट न करके इतना कहना पर्याप्त होगा कि इस बात पर सब सहमत हैं कि राष्ट्र-भाषा इसी लघु-हिंदी के आधार पर निर्मित कोई उन्नत साहित्यिक भाषा हो सकती है। वह भाषा आधुनिक हिंदी है। कुछ लोग आधुनिक उर्दू को यह स्थान देना चाहते हैं। इस मत-विरोध के कारण बहुत-से राजनीतिक नेताओं ने हिंदी और उर्दू को मिलाकर एक करने की सोची है। इस मिलावट का वे नाम रखते हैं

'हिंदुस्तानी' (जो वास्तव में उर्दू का प्राचीन पर्याय है)। इस संबंध में सबसे प्रमुख स्थान कांग्रेस और गांधीजी का है। अभी हाल में (फ़रवरी, १६४५) गांधीजी ने वर्धा में हिंदी और उर्दू के 'फ्यूज़न' वाले विचार को क्रियात्मक रूप देने के लिये एक हिंदुस्तानी-प्रचार-सम्मेलन बुलाया था। सम्मेलन में क्या हुआ, इसे यहाँ बतलाने की आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना कहना काफ़ी होगा कि यह सम्मेलन हिंदुस्तानी आंदोलन की अब तक की सबसे बड़ी घटना है। इस सम्मेलन से बड़ी कटुता फैली है, और हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी के पक्ष और विपक्ष में सब प्रकार के तर्क दिए जा रहे हैं, जिनमें से बहुत के पीछे कटु सांप्रदायिक भावना छिपी हुई है। हमें यहाँ हिंदुस्तानी आंदोलन पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना है, और इसकी रोशनी में राष्ट्र-भाषा की समस्या का वैज्ञानिक हल उपस्थित करना है। हिंदी और उर्दू के 'फ्यूज़न' की बात पर विचार करने से पहले 'फ्यूज़न' के पक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं, उनकी रोशनी में हिंदी और उर्दू पर एक नज़र डालना आवश्यक है।

हिंदी

आधुनिक हिंदी कोई नई, गढ़ी हुई भाषा नहीं है। यह एक हज़ार वर्ष पुरानी भाषा है। इसका यह अर्थ नहीं कि हिंदी-साहित्य में खड़ी बोली एक हज़ार वर्षों से व्यवहृत हो रही

है। जिस बात का क्रियात्मक महत्त्व है, वह यह है कि एक हज़ार वर्षों से हिंदी का ही कोई-न-कोई रूप साहित्य में व्यवहृत हो रहा है। प्रत्येक भाषा-शास्त्री जानता है कि ब्रज, अवधी आदि पूर्वी और पश्चिमी हिंदी की बोलियाँ हैं। खड़ी बोली हिंदी अर्थात् आधुनिक हिंदी उसी शृंखला की एक कड़ी है, और उसकी परंपरा वही है। उदाहरण के लिये, खड़ी बोली का शब्द 'तुम्हारा' यदि हिंदी की अन्य बोलियों में जाकर 'तुम्हार', 'तुम्हरो', 'तुम्हारो' इत्यादि हो जाता है, तो इस कारण वह अहिंदी शब्द नहीं हो जायगा। किसी भाषा के इतिहास में साहित्यिक व्यंजना के लिये एक बोली के स्थान में उसकी एक दूसरी बोली का आ जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। ऐसे परिवर्तन कई पुरानी भाषाओं के इतिहास में, जो आज जीवित हैं, घटित हुए हैं। तथ्य की बात यह है कि पिछले एक हज़ार वर्षों में हिंदी का कोई-न-कोई साहित्यिक रूप सदैव वर्तमान रहा है, जिसने करोड़ों हिंदुओं और मुसलमानों की साहित्यिक आवश्यकताओं की पूर्ति की है। उर्दू, जो बाद को राजदरबारों में पलकर बड़ी हुई, देश में हिंदी का स्थान कभी न ले सकी। अभी कुछ समय पहले तक हिंदी-भाषियों की साहित्यिक व्यंजना का माध्यम ब्रज-हिंदी था। जब पद्य का युग बीत गया, और गद्य के युग ने पदार्पण किया, तब ब्रज के स्थान पर, जो पद्य-युग के अधिक उपयुक्त थी, खड़ी बोली, जो आधुनिक गद्य-युग के अधिक उपयुक्त है

आ गई। स्पष्ट है, यह कहना कि आधुनिक हिंदी नई, गढ़ी हुई भाषा है, बिलकुल ग़लत है। बोली जानेवाली भाषा के रूप में खड़ी बोली लगभग एक हज़ार साल से विद्यमान है, अब वह समस्त हिंदी-संसार की साहित्यिक भाषा भी है। जब हिंदुओं ने खड़ी बोली में लिखना आरंभ किया, तब उन्होंने उसे साहित्य के लिये उसी प्रकार परिमार्जित और विकसित किया, जिस प्रकार व्रज को किया था, और उसमें उसी गंभीर शब्दावली का प्रयोग किया, जिसका व्रज और अवधी-साहित्य में किया था। अगर खड़ी बोली के स्थान में हिंदुओं ने साहित्यिक व्यंजना के लिये हिंदी की किसी और बोली को आधार बनाया होता, अथवा व्रज को ही रहने दिया होता, तो वह भी इतनी ही संस्कृत-निष्ठ होती, जितनी आधुनिक हिंदी है, और वह उर्दू से इतनी ही भिन्न होती, जितनी आधुनिक हिंदी है, या जितनी व्रज और अवधी उर्दू से सदैव भिन्न रही हैं। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि आधुनिक हिंदी सूर और तुलसी या हिंदी के किसी अन्य प्राचीन कवि की हिंदी से अधिक संस्कृत-निष्ठ नहीं है, और न आधुनिक हिंदी आधुनिक बँगला, मराठी या गुजराती से ही अधिक संस्कृत-निष्ठ है। आधुनिक हिंदी में कोई विचित्रता नहीं। आधुनिक हिंदी के संस्कृत-शब्दों को बुरी दृष्टि से देखना या उन्हें अनावश्यक या सांप्रदायिकता का परिणाम बतलाना, अथवा यह कहना कि हिंदी के लेखक जनता के

लिये नहीं लिखते, उत्तरी भारत के पिछले एक हजार वर्षों के भाषा-इतिहास से पूर्ण अनभिज्ञता का द्योतक है। हिंदी को 'संस्कृत-निष्ट हिंदी' कहकर संबोधित करना इतना ही अस्वाभाविक, अनुपयुक्त और अनावश्यक है, जितना बँगला को 'संस्कृत-निष्ट बँगला' अथवा फ्रेंच को 'लैटिन-निष्ट फ्रेंच' कहना। हिंदी बस हिंदी है। अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं की भाँति हिंदी में संस्कृत-जन्य गंभीर शब्दावली का प्रयोग बिलकुल स्वाभाविक है, और हिंदी के पहले 'संस्कृत-निष्ट' विशेषण लगाना अनुचित है। हाँ, यदि उर्दू को 'फ़ारसी-निष्ट हिंदी' कहा जाय तो ठीक होगा, क्योंकि उर्दू हिंदी की एक भ्रष्ट साहित्यिक शैली है जिसे हिंदी की प्रकृति के विरुद्ध अरबी-फ़ारसी से शब्द लेकर विकसित किया गया है, और जिसका जन्म जनता में नहीं वरन् विचित्र राजनीतिक परिस्थितियों के कारण सीमित शहरी क्षेत्रों में हुआ। बाद में ब्रिटिश सरकार ने इसे मान्य क़रार दिया, और एक स्वतंत्र भाषा के ऊँचे पद पर ला बैठाला। उर्दू के हिंदी से संबंध और आपेक्षिक स्थिति पर बाद में विचार किया जायगा।

सच तो यह है कि आधुनिक हिंदी तुलसी और सूर की हिंदी से कहीं अधिक फ़ारसीमय है, और आधुनिक बँगला, मराठी और गुजराती से भी अधिक फ़ारसीमय है, क्योंकि जितने अरबी-फ़ारसी के (अथवा अंगरेज़ी के) शब्द उत्तरी

भारत की हिंदू और मुसलमान जनता की बोलचाल की भाषा में घुल-मिल गए हैं, वे आधुनिक हिंदी में निर्विरोध प्रयुक्त होते हैं, और इस प्रकार आधुनिक हिंदी का संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्य-प्रांत और राजस्थान की जनता की बोलचाल की भाषा से वही संबंध है, जो बँगला, मराठी, गुजराती आदि साहित्यिक भाषाओं का अपने-अपने क्षेत्र की जनता की बोलचाल की भाषा से है। वास्तव में दोषी उर्दू है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी कहते हैं—

"आम तौर से साहित्यिक हिंदी में प्रचलित अरबी-फारसी-दों की एक बड़ी संख्या वर्तमान है, परंतु उर्दू हिंदी के ाज और संस्कृतज शब्दों के प्रति वैसा उदार भाव नहीं खाती।"*

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि नवाबों या मौलवियों भाषा में प्रयुक्त होनेवाले अरबी-फारसी के शब्द उसी ार प्रचलित नहीं माने जा सकते जिस प्रकार शिक्षितों

---

* "While High-Hindi has generally retained a ge number of naturalised Perso-Arabic words, Urdu usually does not show that liberal attitude towards native Hindi and Sanskrit." ['Languages and the Linguistic Problem' by Dr. Suniti Kumar Chatterji, M.A. (Calcutta), D. Lit. (London), F. R. A. S. B., Khaira Professor of Indian Linguistics and Phonetics, Calcutta University.]

की 'बाबू हिंदुस्तानी' में प्रयुक्त होनेवाले अँगरेज़ी के आवश्यक और अनावश्यक शब्द प्रचलित नहीं माने जा सकते। हमें मतलब जनता की भाषा से है। और, जनता की भाषा क्या है यह पंडित रामनरेश त्रिपाठी के संग्रह 'ग्राम-गीत' में देखने को मिलेगा, उन मसनवियों, मरसियों और दीवानों में नहीं, जिन्हें डॉ० ताराचंद बड़े तपाक से 'हिंदुस्तानी' के उदाहरण-स्वरूप पेश किया करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी अपढ़-से-अपढ़ और निपट गँवार देहाती की ज़बान पर विराजमान होने का श्रेय कबीर, तुलसी, सूर और मीरा की अमर कृतियों को प्राप्त है, ग़ालिब और इक़बाल के काव्य को नहीं। राष्ट्र के उत्तरार्ध के करोड़ों निवासियों के हृदय और कंठ से निकलकर हिंदी के ही अमर कवियों का संगीत वायुमंडल को मुखरित कर रहा है। यदि आज भी ऐसे आवश्यक शब्दों के लिये जो आज तक के हिंदी-साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुए, अथवा जो जनता की कथित भाषा से नहीं मिल सकते, आधुनिक हिंदी अरबी-फ़ारसी के बजाय संस्कृत की शरण लेती है, तो क्या इसमें किसी को किंचिन्मात्र आपत्ति हो सकती है ? हिंदी पर सांप्रदायिकता का जो आरोप लगाया जाता है, उसके विषय में इतना कहना यथेष्ट होगा कि हिंदी-साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में हिंदी के मुसलमान कवियों को उससे कहीं ऊँचा पद प्राप्त है, जो उर्दू-साहित्य के क्षेत्र में उर्दू के हिंदू कवियों को

प्राप्त है। अगर आधुनिक युग में आकर हिंदी-भाषी प्रांतों के मुसलमानों ने अपनी स्वाभाविक साहित्यिक भाषा हिंदी से नाता तोड़ लिया है, तो इसमें हिंदुओं, हिंदी या हिंदी-लिपि का दोष नहीं। इसके कारण वे ही हैं, जिनसे प्रेरित होकर आज मुसलमान पाकिस्तान की माँग कर रहे हैं, बँगला को 'मुसलिम बँगला' बना रहे हैं, सिंधी में अरबी के शब्द ठूँस रहे हैं, और बंबई-प्रांत के मराठी और गुजराती बोलनेवाले मुसलमानों के लिये (अभी हाल की बंबई-प्रांतीय उर्दू-कॉन्.फ्रेंस में, जिसका सभापतित्व डॉ० अब्दुल हक़ ने, जिनसे गांधीजी 'हिंदुस्तानी' के विषय में अब अपने आपको सहमत बतलाते हैं, किया) एक उर्दू-विश्वविद्यालय की माँग कर रहे हैं। 'हिंदी-उर्दू-समस्या' का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। यह तो केवल राजनीतिक हिंदू-मुसलिम-समस्या की भाषा के क्षेत्र में छाया है, और राजनीति के क्षेत्र में सांप्रदायिक समस्या सुलझने पर अपने आप हल हो जायगी।

ऊपर के विवेचन से यह भली भाँति स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी अपनी मर्यादा के अंदर है; अपनी परंपरा पर आरूढ़ है, और वह उत्तरी भारत की स्वाभाविक साहित्यिक भाषा है, इसलिये उसे अपने वर्तमान रूप में रहने का पूर्ण अधिकार है। अगर गांधीजी या हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा की ओर से हिंदी को दबाने का या उसे किसी प्रकार की हानि पहुँचाने का या उसे विकृत करने का या उसकी उन्नति और प्रचार में रुका-

वट खड़ी करने का या उसके स्वाभाविक विकास में बाधा डालने का या हिंदू-मुसलिम-एकता के ग़लत अर्थ लगाकर अथवा हिंदी-उर्दू समस्या को ठीक से न समझने के कारण उसे उर्दू से जबरदस्ती 'फ्यूज़' करने के लिये उस पर बाह्य प्रभाव डालने का कोई प्रयत्न किया जाता है, तो यह सरासर अनधिकार चेष्टा और साहित्यिक अनाचार एवं अत्याचार होगा और सारा हिंदी-संसार इसे हिंदी के प्रति अकारण शत्रुता मानने और अपनी समस्त शक्ति से इसका मुक़ाबला करने के लिये बाध्य होगा।

उर्दू

उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है। उर्दू किसी भी प्रदेश की जनता की भाषा नहीं है, और न वह उत्तरी भारत के देहातों में कहीं बोली जाती है। यह किसी भी भाषा-शास्त्री से पूछा जा सकता है। बोलचाल की हिंदी में थोड़े-से अरबी-फ़ारसी के शब्दों के होने के कारण उसे उर्दू कहना भाषा-शास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है। जैसा पहले कहा जा चुका है, जनता की बोलचाल में घुले-मिले अरबी-फ़ारसी के शब्द आधुनिक हिंदी में मौजूद हैं, और हिंदी की एक ऐसी साहित्यिक शैली के लिये भी, जिसमें केवल ये ही अरबी-फ़ारसी के शब्द आएँ, किसी नए नाम की जरूरत नहीं। उर्दू नाम हिंदी की उसी साहित्यिक शैली को दिया जा सकता है,

जिसमें जनता की बोलचाल में अप्रचलित परंतु आवश्यक सभी शब्द (प्रायः अनावश्यक शब्द भी) हिंदी के स्वाभाविक शब्द-स्रोत संस्कृत की अपेक्षा अरबी-फ़ारसी से लिए जाते हैं। उर्दू-शैली का किन परिस्थितियों में जन्म हुआ और उसका किस प्रकार विकास हुआ, यह इतिहास का विषय है, यहाँ उसके विवेचन करने की ज़रूरत नहीं। यहाँ इतना कहना यथेष्ट होगा कि एक पृथक् साहित्यिक शैली के रूप में उर्दू के विकास में उर्दू की पृथक् लिपि का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उर्दू-शैली भी दो सौ वर्ष पुरानी हो चुकी है, और अब उससे झगड़ना बेकार है। वह अब हटाई नहीं जा सकती। जब तक उर्दू की लिपि पृथक् रहेगी, तब तक उर्दू भी पृथक् रहेगी। अगर उर्दू हिंदी-लिपि अपना भी ले, जैसा होना असंभव दिखाई देता है, तो भी वह हिंदी नहीं हो जायगी। यह सोचना मन के लड्डू फोड़ने के सिवा और कुछ नहीं कि उर्दू के ३० प्रतिशत अरबी-फ़ारसी-शब्द त्याग दिए जायँगे, और उनके स्थान पर संस्कृत के शब्द आ जायँगे, अथवा हिंदी अपने स्वदेशी संस्कृत-शब्दों को छोड़कर अरबी-फ़ारसी के शब्द अपना लेगी। हमारा उर्दू से कोई विरोध नहीं, लेकिन उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा अथवा राष्ट्र-भाषा के प्रकरण में उर्दू (और उर्दू-लिपि) को हिंदी (और हिंदी-लिपि) के समकक्ष नहीं रक्खा जा सकता। कारण बिलकुल साफ़ हैं। इनमें से कुछ ये हैं —

(१) जैसा पहले कहा जा चुका है, हिंदी उत्तर और मध्य भारत की स्वाभाविक साहित्यिक भाषा है; और इसका जनता की कथित बोलियों तथा भाषाओं से वही संबंध है, जो अपने-अपने क्षेत्र में बँगला, गुजराती और मराठी का है; किंतु उर्दू के साथ यह बात नहीं है। उर्दू का विकास तो राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हिंदी की एक औपनिवेशिक साहित्यिक शैली के रूप में हुआ, और आज भी बोलचाल में उर्दू उत्तरी भारत के नगरों में कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ही पाई जाती है। जब मुसलिम-शासन-काल में राजदरबारों में पलकर उर्दू विकसित हो गई, तो ब्रिटिश सरकार ने उसे आश्रय दिया। सरकारी राजदरबार में आज उर्दू को जो पद प्राप्त है, वह केवल ब्रिटिश सरकार का दिया हुआ है। मुसलिम-शासन-काल में एक समय सरकारी काम की मराठी में भी अरबी-फ़ारसी के शब्दों की बाढ़ आ गई थी, परंतु बाद को मरहठों के शासन-काल में उसने फिर अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर लिया। परंतु उत्तर में मुसलिम शासन की समाप्ति के बाद सरकारी दरबारी हिंदी अर्थात् फ़ारसी-निष्ठ हिंदी (अर्थात् उर्दू) जनता की हिंदी में, कुछ तो अपनी पृथक् लिपि के कारण और कुछ ब्रिटिश सरकार के राज्याश्रय देने के कारण, परिवर्तित न हो सकी। इस प्रकार उर्दू विकसित होती चली गई, और आज मुसलमान इसे अपनी संस्कृति का प्रतीक मानने लगे हैं। हमें एक

सांप्रदायिक भाषा या शैली के रूप में उर्दू मान्य होने में कोई आपत्ति नहीं, परंतु यह प्रकट है कि उसे अपनी जन्मदात्री वास्तविक हिंद-शैली के समकक्ष उसी प्रकार नहीं रक्खा जा सकता, जिस प्रकार अँगरेज़ी-निष्ठ हिंदी अर्थात् 'बाबू हिंदुस्तानी' को, जो अँगरेज़ी की शिक्षा-प्राप्त वर्ग में बिलकुल वैसी ही परिस्थितियों में पैदा हो गई है, जिनमें उर्दू पैदा हुई थी और जो आगे चलकर किसी समय में लिखी जाकर साहित्यिक भी बन सकती है, हिंदी के समकक्ष नहीं रक्खा जा सकता। (अँगरेज़ी भी इसका अपवाद नहीं है—इसमें भी 'बाबू इँगलिश', 'कुली इँगलिश', 'पिजिन (Pidgin) इँगलिश'-सरीखी शैलियाँ संसार के विभिन्न भागों और वर्गों में पैदा हो गई हैं। परंतु इनको साहित्यिक महत्त्व प्राप्त हो जाने पर भी 'किंग्स इँगलिश' के समकक्ष नहीं रक्खा जा सकता।) परिस्थिति-वैचित्र्य के अनुसार जहाँ-तहाँ हिंदी की सैकड़ों शैलियाँ बन सकती हैं, परंतु उन्हें वास्तविक यानी स्टैंडर्ड हिंदी के समकक्ष नहीं रक्खा जा सकता। जहाँ तक उर्दू जनता की बोलचाल को प्रभावित कर सकी है, अर्थात् जहाँ तक जनता की बोलचाल में अरबी-फ़ारसी के शब्द घुल-मिल गए हैं, वहाँ तक आधुनिक हिंदी ने उनको अपने में उसी प्रकार हज़म कर लिया है, जिस प्रकार 'बाबू हिंदुस्तानी' की मार्फ़त जनता की बोलचाल में घुले-मिले अँगरेज़ी शब्दों को। बँगला, मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं ने भी कितने ही अरबी-फ़ारसी और

अँगरेजी के शब्दों को हजम कर लिया है; परंतु आवश्यक शब्दों के लिये वे पहले अपने स्वाभाविक स्रोत संस्कृत का ही भांडार खोजती हैं। इस प्रकार यदि उत्तरी भारत की जनता की बोलचाल में थोड़े-से अरबी-फ़ारसी के शब्द आ गए हैं, तो इसके यह माने नहीं निकलते कि हिंदी जान-बूझकर एक भी ऐसे नवीन शब्द के लिये अरबी-फ़ारसी का सहारा ढूँढ़े, जो उसे अपने स्वाभाविक स्रोत संस्कृत के कोष से मिल सकता है।

(२) संस्कृत न केवल हिंदी का स्वाभाविक शब्द-स्रोत है, वरन् वह स्वदेशी है; जब कि अरबी और फ़ारसी विदेशी हैं। और कितनी ही बातों में भी उर्दू का वातावरण विदेशी है।

(३) उर्दू ने जनता की बोलचाल में प्रचलित कितने ही देशज और संस्कृतज शब्दों को भी त्याग दिया है, और उनके स्थान पर अरबी-फ़ारसी के शब्दों को भर लिया है। पं० रामनरेश त्रिपाठी के संग्रह 'ग्राम-गीत'-जैसे लोक-साहित्य पर एक सरसरी नज़र डालने से ही पता चल जायगा कि आधुनिक हिंदी उर्दू की अपेक्षा न केवल शब्दों के मामले में जनता की कथित भाषा के अत्यधिक निकट है, वरन् उसमें वही वातावरण झलक रहा है और वही आत्मा प्रकाशित हो रही है। उर्दू का ऐसा करना कितना अराष्ट्रीय और देश-विमुखता का परिचायक है, यह साउदे के शैली-विषयक निबंध के निम्न-लिखित उद्धरण से भली भाँति व्यक्त किया

जा सकता है—"हमारी भाषा एक सुंदर और श्रेष्ठ भाषा है। मैं परिवार के नाते एक जर्मन शब्द या मुहावरे को तरह दे सकता हूँ, परंतु जो व्यक्ति एक ऐसे स्थान पर, जहाँ एक पुराने विशुद्ध अँगरेज़ी शब्द से भली भाँति काम चल सकता है, लैटिन या फ्रेंच शब्द का प्रयोग करता है, उसे मातृभाषा के प्रति भीषण द्रोह के अभियोग में फाँसी पर लटका देना चाहिए, और उसकी खाल खिंचवानी चाहिए*।" हिंदी उर्दू पर 'भीषण द्रोह' का अभियोग लगाती है।

(४) उत्तरी भारत में क्या और समस्त भारत में क्या, साहित्यिक भाषा के रूप में हिंदी का पठन-पाठन करनेवालों की संख्या उर्दू का पठन-पाठन करनेवालों की संख्या से कहीं अधिक है।

(५) उर्दू की अपेक्षा हिंदी अन्य भारतीय साहित्यिक भाषाओं के कहीं अधिक निकट है। इस अत्यंत महत्त्व-पूर्ण बात को विस्तार से कहने की जरूरत नहीं।

लिपि के मामले में भी उर्दू-लिपि को हिंदी-लिपि के समकक्ष

---

* "Ours is a noble language, a beautiful language. I can tolerate a Germanism for family sake; but he who uses a Latin or a French phrase where a pure old English word does as well, ought to be hung, drawn and quartered for high treason against his mother-tongue." [Southey in Essay on Style.]

क्यों नहीं रक्खा जा सकता, इस विषय के निम्न-लिखित तर्क कुछ और कहने की गुंजाइश नहीं छोड़ते—

(१) देवनागरी भारत की प्राचीन, देशज, स्वदेशी लिपि है; उर्दू-लिपि विदेशी है।

(२) उत्तरी भारत में क्या और समस्त भारत में क्या, देवनागरी जाननेवालों और प्रयोग करनेवालों की संख्या उर्दू-लिपि जाननेवालों और प्रयोग करनेवालों की संख्या से कहीं अधिक है, कम-से-कम पँचगुनी है।

(३) देवनागरी या देवनागरी का थोड़ा-सा रूपांतर भारत की दो अन्य प्रमुख साहित्यिक भाषाओं—मराठी और गुजराती—की लिपि है। असमी, उड़िया, गुरुमुखी, तामिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम की लिपियाँ भी देवनागरी का ही रूपांतर हैं।

(४) बंगाल के ३ करोड़ मुसलमान जिस लिपि में लिखते हैं, वह देवनागरी का ही रूपांतर है। बँगला-लिपि देवनागरी-लिपि का ही रूपांतर है।

(५) देवनागरी को लिखना, पढ़ना और सीखना अधिक सरल है। देवनागरी संसार की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है।

(६) देवनागरी में अधिक शीघ्रता से छापा और टाइप किया जा सकता है।

(७) उर्दू-लिपि में शोशों और नुक़्तों के कारण आँख पर बड़ा ज़ोर पड़ता है। लिखने में ग़लतियाँ भी बहुत होती हैं।

(८) सैकड़ों भारतीय शब्दों को (उदाहरण के लिये भाग्य, संदिग्ध, ब्राह्मण, साहित्य, आवश्यक) उर्दू-लिपि में लिखना ही संभव नहीं है। उर्दू-लिपि में कितनी ही भारतीय ध्वनियाँ नहीं हैं। उर्दू-लिपि किसी भी भारतीय भाषा के, जिसमें स्वयं उर्दू भी शामिल है, लिखने के लिये बिलकुल अनुपयुक्त है। इसमें लिखा हुआ कोई शब्द कई प्रकार से पढ़ा जा सकता है। अगर राष्ट्र-भाषा के लिये केवल उर्दू-लिपि, या देवनागरी के साथ-साथ उर्दू-लिपि भी मान्य होती है, तो सैकड़ों भारतीय शब्द सदा के लिये लुप्त हो जायँगे, और सैकड़ों की दुर्दशा हो जायगी, परिणाम यह होगा कि हमारा प्राचीन भारतीय साहित्य—विशेषकर हिंदी-साहित्य से संबंध टूट जायगा।

यहाँ उर्दू के विषय में एक भ्रांत धारणा दूर कर देना आवश्यक है। डॉ० ताराचंद-सरीखे उर्दू के पक्षपाती प्रायः कहा करते हैं कि उर्दू हिंदुओं और मुसलमानों की 'कामन' भाषा है, अथवा यह कि उर्दू हिंदुओं और मुसलमानों के संयुक्त प्रयत्नों का फल है। ऐसे कथनों में दोहरी चाल है, क्योंकि जिस बात का दावा किया जाता है, और जिस बात को अप्रत्यक्ष रूप से अस्वीकार किया जाता है, वे दोनो ही ग़लत हैं। उर्दू किस हद तक हिंदुओं और मुसलमानों की 'कामन भाषा' है, अथवा उर्दू कहाँ तक हिंदुओं और मुसलमानों के सम्मिलित प्रयत्न का फल है, इसका पता उर्दू-भाषा के इतिहास

की किसी पुस्तक से लग जायगा *। यहाँ केवल हिंदी की स्थिति स्पष्ट कर देना यथेष्ट होगा। जहाँ तक बोलचाल की भाषा का संबंध है, वहाँ तक उत्तर और मध्य भारत के किसी भी क्षेत्र या जन-समुदाय-विशेष के हिंदुओं और मुसलमानों की एक ही भाषा या बोली है, वह चाहे हिंदी के अधिक निकट है, या उर्दू के। इसके सिवा कोई दूसरी बात हो ही नहीं सकती। ये कथित बोलियाँ या भाषाएँ हिंदी, बिहारी, राजस्थानी आदि की विभिन्न जनपदीय बोलियाँ और नगरों में बोली जानेवाली खड़ी बोली या हिंदुस्तानी की विभिन्न शैलियाँ हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, सामूहिक दृष्टि से इस विशाल प्रदेश की हिंदू और मुसलमान जनता की भाषा हिंदी के कहीं अधिक निकट है (उर्दू के मुक़ाबले में)। जहाँ तक साहित्यिक हिंदी और उर्दू के पठन-पाठन का संबंध है, वहाँ तक भूतकाल में हिंदी के मुसलमान विद्वान् उर्दू के हिंदू विद्वानों की अपेक्षा अधिक उच्च कोटि के हुए हैं। वर्तमान काल में भी यदि राजनीतिक हिंदू-मुसलिम-विवाद ने भाषा के क्षेत्र में टाँग न पसारी होती, तो मुसलमान आधुनिक हिंदी को न त्यागते। ऐसा होने पर भी वर्तमान स्थिति क्या है, इसे एक मुसलमान विद्वान् की ही ज़बानी सुनिए। सन् १९२९ में श्रीख़्वाजा हसन निज़ामी-कृत क़ुरान शरीफ़ का हिंदी-लिपि और

---

* दूसरे भाग में 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' तथा 'पं० सुंदरलाल और हिंदुस्तानी'-शीर्षक लेख देखिए।

हिंदी-भाषा में जो अनुवाद प्रकाशित हुआ है, उसकी भूमिका में अनुवादक ने लिखा है कि एक करोड़ मुसलमान ऐसे हैं जो अब भी अपना सारा काम-काज हिंदी में करते हैं, और हिंदी के सिवा और कुछ नहीं जानते, और उन्हीं के लाभार्थ सैकड़ों धार्मिक मुसलमानों के चंदे से हजारों रुपए खर्च कर क़ुरान शरीफ़ का हिंदी-अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, डॉ० ताराचंद यह जानते हैं। आजकल मुसलमान हिंदी क्यों छोड़ते जा रहे हैं (और हिंदू उर्दू क्यों छोड़ते जा रहे हैं), इसके कारण का निर्देश पहले किया जा चुका है। यदि आज हिंदी के मुसलमान विद्वानों की अपेक्षा उर्दू के हिंदू विद्वान् अधिक दिखाई पड़ते हैं, तो इसके कारण राज-नीतिक हैं, और पिछली शताब्दी में सरकार के राजदरबार और कारोबार में उर्दू का जो पद रहा है, उससे संबंध रखते हैं। क्या यह बात सारी कहानी नहीं कह देती कि युक्त प्रांत में उर्दू के अधिकांश हिंदू भक्त कायस्थ और काश्मीरी अर्थात् राजकर्मचारी और मुंशी-वर्ग के हैं ? पंजाब में केवल इतना अंतर है कि जनता को उर्दू की तरफ़ खींचने के लिये उस पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से, अधिक समय से और अधिक मुस्तैदी के साथ दबाव डाला गया है। परंतु पंजाब के हिंदुओं और मुसलमानों की मातृभाषा या पंजाब की कथित भाषा पंजाबी है, उर्दू नहीं। इसलिये इस प्रकार की बातों से कुछ सिद्ध नहीं होता। अगर आज भारतीय भाषाओं के अँगरेज़

विद्वानों की अपेक्षा अँगरेज़ी के भारतीय विद्वानों की संख्या अधिक है, तो क्या इससे यह सिद्ध हो जायगा कि अँगरेज़ी अँगरेज़ों और भारतीयों की 'कामन भाषा' है ? यह भी बहुत संभव है कि ब्रिटिश शासन का अंत होने पर भारत में बसे हुए अँगरेज़, भारतीय ईसाई और ऐंग्लो-इंडियन अँगरेज़ी को अपनी संस्कृति का प्रतीक मानें, और उसे पढ़ने की ज़िद करें, और बहुत-से भारतीय, जो अँगरेज़ी के आदी हो चुके हैं (यहाँ तक कि वे अपने धर्म-ग्रंथों का अध्ययन अँगरेज़ी में करते हैं, अपने निजी पत्र अँगरेज़ी में लिखते हैं, और किसी भी भारतीय भाषा की अपेक्षा अँगरेज़ी ज़्यादा अच्छी तरह जानते और समझते हैं—दूसरे शब्दों में, उनके निकट अँगरेज़ी का स्थान उससे कहीं अधिक ऊँचा है, जो उर्दू का हिंदुओं के निकट कभी था, या अब है), फिर अपनी मातृभाषा को अपनाने में कठिनाई महसूस करें, और इस कारण घबराकर अँगरेज़ी की उसी प्रकार डुग्गी पीटें, जिस प्रकार आज डॉ० ताराचंद उर्दू की पीट रहे हैं।

सांप्रदायिकता के दृष्टिकोण से सोचने से कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

'कामन' भाषा

गांधीजी हिंदुओं और मुसलमानों की 'पुरानी कामन भाषा' को पुनर्जीवित करने की बात कहते हैं। पता नहीं,

वह 'पुरानी कामन भाषा' कौन-सी है। अगर इससे गांधीजी का अभिप्राय कथित या बोली जानेवाली भाषा से है, तो वह तो अब भी वर्तमान है, और अब भी प्रत्येक क्षेत्र या जनपद के हिंदू और मुसलमान एक ही बोली बोलते हैं। साधारण बोलचाल की 'कामन' भाषा का सामूहिक रूप हिंदी और उर्दू दोनो में ही आधार-स्वरूप वर्तमान है, और यदि गांधीजी की हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा का उद्देश्य केवल इसी का प्रचार करना है, तो सभा का नाम 'हिंदी और उर्दू-प्रचार-सभा' कर दिया जाय, और हिंदी या उर्दू को पढ़ने के लिये चुनना विद्यार्थी की मर्ज़ी पर छोड़ दिया जाय, क्योंकि वह इसे (अर्थात् इस कामन भाषा को) तो दोनो ही हालतों में जान जायगा। वास्तव में इसका प्रचार करने की तो कोई ज़रूरत ही नहीं, क्योंकि अनिवार्य आवश्यकता के कारण राष्ट्र एक ऐसी राष्ट्र-भाषा कभी का बना चुका है, जिससे बाज़ारू काम सध जाते हैं, और जिसका नामकरण 'बाज़ार हिंदुस्तानी' (लघु-हिंदी) किया गया है, जो 'यथा नामा तथा गुणः'-वाली कहावत को सोलह आने चरितार्थ करता है। परंतु प्रश्न तो शिक्षित-वर्ग के अंतःप्रांतीय व्यवहार के लिये एक उन्नत भाषा का है। क्या गांधीजी का वास्तव में यह विश्वास है कि जिस 'हिंदुस्तानी' को देहाती समझते हैं, वह अखिल भारतीय भाषा के स्थान से अँगरेज़ी को निकालने में समर्थ होगी, अथवा उसमें अखिल भारतीय समाचार-पत्र छापे जा

सकेंगे, अथवा उससे भारत की पार्लियामेंट का काम चल सकेगा? वर्धा की हिंदुस्तानी-प्रचार-कॉन्फ्रेंस में अधिकांश वक्ताओं ने चिल्ला-चिल्लाकर कहा कि हिंदी उर्दू में ६० प्रतिशत शब्द 'कामन' हैं। वे अवश्य 'कामन' हैं। वे 'कामन' इस कारण हैं कि जनता की बोलचाल और नित्य के व्यवहार में आनेवाले देशज शब्द हैं; और जो भी साहित्यिक भाषा इन शब्दों को आधार-स्वरूप ग्रहण न करेगी, वह स्वप्न में भी जनता के किसी भाग द्वारा नहीं अपनाई जा सकती। परंतु शेष ३० प्रतिशत शब्दों के विषय में, जो भिन्न हैं, क्या विचार है? ये शब्द अनावश्यक नहीं हैं। अगर अँगरेज़ी को निकालकर उसके स्थान में राष्ट्र-भाषा को कभी प्रतिष्ठित करना है, अगर उसे अँगरेज़ी के समान संपन्न और व्यंजनाशील बनाना है, अगर उसमें किसी टेक्निकल, वैज्ञानिक, साहित्यिक या दार्शनिक विषय का विवेचन करना है, अगर उन भारतीयों को, जो अँगरेज़ी-जैसी परिमार्जित और व्यंजनाशील भाषा में अपने विचार व्यक्त करने के आदी हो गए हैं, अँगरेज़ी छोड़कर राष्ट्र-भाषा अपनाने को तैयार करना है, अगर संस्कृत और प्राकृत में सुरक्षित राष्ट्रीय साहित्य को राष्ट्र-भाषा में फिर से उतारना है, और अगर उसे कम-से-कम भारत की प्राचीन राष्ट्र-भाषा संस्कृत के समान समृद्ध और भारत के योग्य बनना है, तो इन शब्दों की परम आवश्यकता है। अगर इन शब्दों की आवश्यकता

न होती, तो बँगला, मराठी और गुजराती को भी संस्कृत-शब्दों की ज़रूरत न होती। इन शब्दों की संख्या बहुत बड़ी—लगभग २० हज़ार—है, और नवीन शब्दों की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती जाती है। ये शब्द उर्दू में अरबी-फ़ारसी के हैं, और हिंदी में मुख्यतः संस्कृत के। वर्धा-कॉन्फ्रेंस ने यह पास किया है कि १५ व्यक्तियों की एक समिति इन शब्दों को 'संस्कृत, फ़ारसी, अरबी और अँगरेज़ी' से ले ले। इस विषय में पहली बात तो यह है कि अरबी, फ़ारसी और अँगरेज़ी को संस्कृत के समकक्ष नहीं रक्खा जा सकता। कारण बहुत स्पष्ट हैं। दूसरी बात यह कि सारी-की-सारी कार्यवाही ही घोर मूर्खता-पूर्ण है। भाषाएँ इस प्रकार नहीं गढ़ी जातीं। भाषाओं की अपनी-अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, और वे अपना रास्ता अपने आप ढूँढ़ लेती हैं। चूँकि हिंदी में सभी संस्कृत के और उर्दू में सभी अरबी-फ़ारसी के शब्द नहीं लिए जा सकते (क्योंकि इससे समस्या जहाँ-की-तहाँ रह जायगी) कौन-से शब्द हिंदी से लिए जायँगे, कौन-से उर्दू से, यह सब कैसे और क्यों कर होगा? अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के किसी पर्यायवाची शब्द-द्वय में से मनमाने ढंग से अरबी-फ़ारसी का शब्द चुने जाने पर हिंदीवाले और संस्कृत का शब्द चुने जाने पर उर्दूवाले क्या इस मनमानी का कटु विरोध न करेंगे, और क्या उनका ऐसा करना बिलकुल उचित न होगा? हिंदी और उर्दू का क्या अनुपात होगा,

और उसे किस प्रकार बनाए रक्खा जायगा ? क्या भाषा के मामले में भी पाकिस्तान, अरबी, फ़ारसी और संस्कृत का अनुपात-निर्धारण अथवा सीटों का रिज़र्वेशन संभव है ? तर्क के लिये मान लीजिए, अरबी-फ़ारसी का अनुपात आज अप्रतिशत निर्धारित किया गया, तो इसकी क्या गारंटी है कि कल डॉ० अब्दुलहक़ यह न कहने लगेंगे कि या तो अरबी-फ़ारसी का अनुपात अ+१० प्रतिशत हो, या हम इस भाषा को स्वीकार नहीं कर सकते, और अपना बहुमूल्य सहयोग प्रदान नहीं कर सकते ? इस प्रकार 'सरेन्डर' होते-होते क्या 'पैरिटी' का फ़ार्मूला न आ जायगा, और उसके बाद भी क्या 'हिंदुस्तानी में हिंदी-राज्य' का भूत दफ़न हो जायगा ? फिर भारतीय ईसाई कहेंगे कि राष्ट्र-भाषा में उचित अनुपात में अँगरेज़ी शब्दों का भी प्रतिनिधित्व हो। हिंदी और उर्दू के अतिरिक्त भारत में और भी भाषाएँ हैं, वे भी राष्ट्र-भाषा में अपने उचित प्रतिनिधित्व की न्यायोचित माँग कर सकती हैं। यह सब पागलपन नहीं तो क्या है ? यह डॉ० ताराचंद-प्रभृति व्यक्तियों की बुद्धि की बलिहारी है, जिन्होंने शब्दों की छाँटा-छूँटी का खिलवाड़ करने की सलाह दी। ऐसा आज तक किसी समय में संसार के किसी देश में नहीं हुआ। शब्द-कोषों का निर्माण और स्वरूप का निश्चयीकरण सदैव भाषा के उद्भव के बाद होता है, उसके पहले नहीं। वह 'हिंदुस्तानी' नाम की भाषा या शैली कहाँ है, जिसका स्वरूप

निश्चित करने और जिसे नियमित और कोष-बद्ध करने के मनसूबे बाँधे जा रहे हैं ? गांधीजी अपने मुँह से कहते हैं कि हिंदी और उर्दू की धाराओं को मिलाकर अब उसे प्रकट किया जायगा। वह सिंधु और ब्रह्मपुत्र की धाराओं को पलटकर अपने स्रोत वापस लौटाने में और फिर एक धारा में प्रवाहित करने में भले ही सफल हो जायँ, लेकिन २० हज़ार हिंदी के संस्कृत-शब्दों और उनके पर्यायवाची उर्दू के २० हज़ार अरबी-फ़ारसी-शब्दों को 'फ़्यूज़' करके मनमाने ढंग से २० हज़ार शब्दों को छाँटकर 'हिंदुस्तानी' की नई शैली गढ़कर चलाना उनके बस का काम नहीं है। वह राष्ट्र का चाहे जितना पैसा, शक्ति और समय इस सनक के पीछे बरबाद कर सकते हैं।

हिंदी और उर्दू का 'फ़्यूज़न'

हिंदी और उर्दू को एक करके 'फ़्यूज़' करना असंभव है, इसमें शक के लिये कोई गुँजाइश नहीं। समय की गति पीछे नहीं फेरी जा सकती। यह सोचना दुराशा-मात्र है कि मुसलमान २० हज़ार अरबी-फ़ारसी-शब्दों में से, जो इस समय भी उर्दू में मौजूद हैं, एक शब्द भी छोड़कर उसके स्थान में संस्कृत का शब्द अपना लेंगे अथवा हिंदू हिंदी में प्रचलित उनके संस्कृत पर्यायों को त्यागकर अरबी फ़ारसी के शब्द अपना लेंगे। हिंदी और उर्दू के पृथक्-पृथक् विकास के पीछे दुर्दम्य शक्तियाँ कार्य कर रही हैं, और बाह्य प्रभाव डालकर इसे रोकने का प्रयास

करना मूर्खता है। इससे केवल हिंदी-उर्दू के व्यर्थ के विवाद की आग में घी पड़ेगा, और यह भी संभव है कि इससे हिंदी और उर्दू, दोनों की साहित्यिक प्रगति रुक जाय, या धीमी पड़ जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि इस तथ्य की ओर लोगों का समुचित रूप से ध्यान नहीं गया है कि हिंदी और उर्दू के पृथक् विकास का और उनके एक दूसरे से अलग रहने का एक बहुत बड़ा कारण हिंदी और उर्दू की पृथक् लिपियाँ हैं। यह सोचना दुराशा-मात्र है कि मुसलमान कभी उर्दू-लिपि छोड़ने पर तैयार हो जायँगे, अथवा हिंदू अपनी स्वदेशी लिपि छोड़ देंगे। और, जब तक दोनों लिपियाँ रहेंगी, तब तक हिंदी और उर्दू अलग रहेंगी, उनका पृथक् विकास जारी रहेगा, हिंदी और उर्दू के 'कामन' शब्दों की संख्या, जो लगभग ३५ हजार है, नहीं बढ़ेगी, लेकिन हिंदी और उर्दू के भिन्न शब्दों की संख्या, जो इस समय लगभग २० हजार है, दिन-पर-दिन बढ़ती जायगी। लिपि-संबंधी इस तथ्य को हिंदुस्तानी के भक्त हिंदुस्तानी के जोश में आकर प्रायः भूल जाते हैं, और इस कारण उनका प्रयत्न विफल हो जाता है, जैसा होना अवश्यंभावी है। परिणाम केवल यह होता है कि व्यर्थ का वाद-विवाद, कटुता और दुर्भावना और बढ़ती हैं। यदि परिस्थितियों के—विशेषकर राजनीति के क्षेत्र में—पलटा खाने पर हिंदी और उर्दू एक दूसरे के अधिक निकट आ जायँ (यद्यपि वे सदैव पृथक् रहेंगी), तो अच्छा, लेकिन समय

आ पहुँचा है कि गांधीजी-जैसे राजनीतिक नेता कृत्रिम उपायों से हिंदी और उर्दू को 'फ़्यूज़' करने का प्रयत्न छोड़ दें।

हिंदी और उर्दू को फ़्यूज़ करके 'हिंदुस्तानी' प्रकट करने के रास्ते में जो विकट कठिनाइयाँ हैं, उनका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। अगर 'हिंदुस्तानी' के साथ-साथ हिंदी और उर्दू को भी रखना है, तब तो हिंदुस्तानी का प्रकट होना क़रीब-क़रीब असंभव है। एक भाषा की तीन 'शैलियों' का दो लिपियों में रहना असंभव है। तीसरी 'शैली' का जन्म ही न होगा।

हिंदी और उर्दू को फ़्यूज़ करके हिंदुस्तानी बनाने का प्रयत्न अनुचित और अनावश्यक भी है। भारत में कई उन्नत साहित्यिक भाषाएँ हैं। यदि हिंदी और उर्दू को भी अपने-अपने वर्तमान रूप में रहने दिया जायगा, तो कौन-सा आसमान फट पड़ेगा ? भारतवर्ष के कई प्रांतों में दो-दो भाषाएँ हैं। उदाहरण के लिये बंबई-प्रांत में मराठी और गुजराती हैं, दोनो सरकार द्वारा स्वीकृत हैं, और अदालती तथा सरकारी काम की भाषा अधिक प्रचलित भाषा मराठी है। ऐसा ही हिंदी-उर्दू-प्रदेश के प्रत्येक शासन-क्षेत्र (Administrative area) में किया जा सकता है, और किया जाना चाहिए। इसमें परेशान होने की क्या बात है ? बुराई तो हिंदी और उर्दू को विशिष्ट संप्रदायों की निजी संपत्ति मानने और उनकी आपसी भद्दी क़िस्म की प्रतिद्वंद्विता

में है। इस प्रकार की मनोवृत्तियों का निवारण करने के लिये हमें अवश्य क़दम उठाना चाहिए, परंतु हिंदू-मुसलिम-एकता के लिये हिंदी-उर्दू के 'फ़्यूज़न' की आवश्यकता नहीं है। बंगाल में भाषा की एकता बंगाली हिंदुओं और मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँधे न रह सकी, और भाषा की भिन्नता बँगला-भाषी मुसलमानों को पश्तो-भाषी पठानों के प्रति भ्रातृत्व का भाव अनुभव करने से न रोक सकी। असली चीज़ भावना है। सद्भावना के अभाव में जो भाषाएँ आज तक एक और 'कामन' हैं, वे भी हिंदी और उर्दू की भाँति हिंदू और मुसलमान 'शैलियों' में विभक्त हो जायँगी। बंगाल की मिसाल आँखों के सामने है। मुसलिम-लीग के प्रभाव में आकर बंगाल के मुसलमान बँगला को उर्दू के रंग में रँग रहे हैं, और संभव है, हिंदी-उर्दू-प्रश्न की भाँति वहाँ शीघ्र ही 'हिंदू-बँगला', 'मुसलिम-बँगला' का प्रश्न उपस्थित हो जाय (इतना अवश्य है कि अगर लिपि एक ही रही तो वह इतना विकराल रूप कभी धारण न करेगा), तब क्या गांधीजी 'हिंदू-बँगला' और 'मुसलिम-बँगला' को फ़्यूज़ करना आरंभ करेंगे? यह तो ऐसा ही हुआ कि रोग की जगह रोग के लक्षणों की दवा की जाय। इस प्रकार एकता कभी नहीं होने की। उल्टे हिंदुओं और मुसलमानों के बीच में कटुता हिंदी और उर्दू के समान परंपरा-युक्त, बहु-प्रचलित और सुस्थापित भाषाओं को फ़्यूज़ करके हिंदुस्तानी गढ़ने के

आंदोलन के कारण बढ़ रही है। वर्धा-कॉन्फ्रेंस में श्री मौलाना सुलेमान नदवी ने फ़रमाया कि हिंदी और उर्दू में केवल इतना अंतर है, जितना 'हिंदू-बँगला' और 'मुसलिम-बँगला' में है। अगर यह सच है, तो स्वयं मौलाना साहब के कथन से यह निष्कर्ष निकला कि हिंदी-उर्दू-प्रश्न को हल करने का अथवा हिंदी-उर्दू को एक दूसरे के निकट लाने का या हिंदुस्तानी बनाने का प्राकृतिक उपाय यह है कि हिंदी और उर्दू की लिपि एक कर दी जाय, क्योंकि अगर बँगाल में आज हिंदी-उर्दू-प्रश्न के समान कोई बखेड़ा नहीं है, और न होगा, तो इसका कारण यही है न कि बँगला की लिपि एक ही है (इस बात का राष्ट्र-लिपि की समस्या से, जिसका आगे चल-कर विवेचन किया जायगा, गहरा संबंध है) । बाक़ी सब अपने आप हो जायगा, यदि राजनीति के क्षेत्र में हिंदुओं और मुसलमानों में प्रेम-भाव हुआ। परंतु, जैसा पहले कहा जा चुका है, यह बात कल्पनातीत है कि मुसलमान कभी उर्दू-लिपि छोड़ने पर सहमत होंगे, इसलिये हमें हिंदी और उर्दू को फ़्यूज़ करके हिंदुस्तानी बनाने की मृगमरीचिका के पीछे दौड़ना बंद कर देना चाहिए, और जो अटल एवं अनिवार्य है, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। हमें अब इस आधार पर विचार करना आरंभ कर देना चाहिए कि हम चाहे उन्हें पसंद करें या न करें, हिंदी और उर्दू अटल हैं, और उन्हें एक नहीं किया जा सकता।

राष्ट्र-भाषा की समस्या पर विचार करने के पूर्व संक्षेप में यह बतलाना अनुचित न होगा कि किसी भी क्षेत्र-विशेष में हिंदी और उर्दू के साथ-साथ वर्तमान रहने से कोई ऐसी व्यवहारात्मक कठिनाई नहीं पड़ती, जिसे पार न किया जा सके। पहले बोलचाल की भाषा को लीजिए। बोलचाल की भाषाएँ लिपियों या अन्य किसी प्रकार के नियमों के बंधन में जकड़ी हुई नहीं होतीं। किसी भी क्षेत्र-विशेष में हिंदुओं और मुसलमानों की बोलचाल की भाषा सदैव एक रही है, और दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के कारण सदैव एक रहने के लिये बाध्य है। इस बोलचाल की भाषा में जो भी परिवर्तन होंगे, उनका उस क्षेत्र की साहित्यिक भाषाओं (हिंदी और उर्दू) पर, यदि वे जीवित हैं, समान प्रभाव पड़ेगा। अगर इनमें से कोई बोलचाल की भाषा में जो परिवर्तन होंगे उनसे प्रभावित न होगी, और इस प्रकार बोलचाल की भाषा से दूर होती जायगी, तो वह धीरे-धीरे अपने आप मर जायगी। स्पष्ट है कि हमें किसी भी क्षेत्र की बोलचाल की या साधारण व्यवहार की भाषा के विषय में चिंता करने की आवश्यकता नहीं। साहित्यिक तथा दिमाग़ी कामों के लिये और गंभीर प्रकार के व्यवहार के लिये प्रत्येक शासन-क्षेत्र में एक साहित्यिक 'कामन' भाषा होनी चाहिए। जिस प्रकार बंबई में प्रमुख साहित्यिक भाषा मराठी अदालती और सरकारी भाषा है, और प्रत्येक गुजराती-

भाषी व्यक्ति के लिये मराठी पढ़ना आवश्यक है, उसी प्रकार हिंदी-उर्दू-प्रदेश में प्रत्येक शासन-क्षेत्र में जो भी प्रमुख हो, उसे अदालती और सरकारी भाषा बनाना चाहिए, और उसका पठन-पाठन प्रथम या द्वितीय भाषा के रूप में सबके लिये अनिवार्य होना चाहिए।

राष्ट्र-भाषा

राष्ट्र-भारत की समस्या एक अनोखे भारत की समस्या नहीं है। संसार में और भी बहु-भाषी देश हैं। उन्होंने इस समस्या का हल अपने-अपने देश की प्रमुख, परंपरा-युक्त साहित्यिक भाषाओं में से एक को राष्ट्र-भाषा के रूप में अपनाकर किया है। उदाहरण के लिये आधुनिक रूस को लीजिए, जहाँ कई भाषाएँ बोली जाती हैं, परंतु रशियन राष्ट्र-भाषा या कामन-भाषा है, और देश-भर में द्वितीय भाषा के रूप में उसका पठन-पाठन अनिवार्य है। हमें राष्ट्र-भाषा का स्थान हिंदी को देना चाहिए। समस्या के सब पहलुओं पर विचार करने के बाद प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डॉ० सुनीति-कुमार चटर्जी अपनी 'लैंगुएज़ ऐंड दि लिंगुइस्टिक प्राबलेम'-नामक पुस्तिका में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—"भारत की भाषा-विषयक मुख्य समस्या का प्रस्तावित हल यह है—भारत की राष्ट्र-भाषा सरल की हुई हिंदी या हिंदुस्तानी होनी चाहिए, जो नागरी-लिपि की भाँति तरतीब दी हुई रोमन-

लिपि में लिखी जाय, जिसमें अरबी-फ़ारसी के सब घुले-मिले शब्दों को स्थान दिया जाय, जिसका दरवाज़ा इस्लाम से संबंधित विशिष्ट प्रकरणों में अरबी-फ़ारसी के नवीन शब्दों के लिये खुला रहे, परंतु जो ऐसे सभी आवश्यक शब्दों के लिये, जो हिंदी के देशज धातुओं से नहीं बनाए जा सकते या जो अँगरेज़ी से आसानी के साथ उधार नहीं लिए जा सकते, स्पष्ट रूप से संस्कृत पर अवलंबित हो।" ❀ सरल की हुई हिंदी से उनका अभिप्राय खड़ी बोली के व्याकरण को सरल करने से है, परंतु यह एक ऐसी बात है, जो अव्यावहारिक है, और जिससे हिंदी और उर्दू दोनो के ही लेखक

---

*"The proposed solution for the main linguistic problem of India is therefore this : the national language of India should be a simplified Hindi or Hindustani written in a modified Roman alphabet arranged like the Nagri alphabet, retaining all naturalised Persian and Arabic words and admitting fresh vocables from those sources in specific Islamic contexts, but with a frank affliation to Sanskrit for necessary words which cannot be created out of native Hindi elements or conveniently borrowed from English."['Languages and the Linguistic Problem' by Dr. S. K. Chattreji, p. 31.]

सहमत न होंगे। लिपि के विषय में डॉ० चटर्जी को स्वयं कहना पड़ा है कि "संभव है, एक नई, विदेशी लिपि के विरुद्ध भावना इतनी तीव्र हो कि उसका अपनाना—कम-से-कम कुछ समय के लिये तो अवश्य ही—कठिन हो जाय। रोमन-लिपि अस्वीकृत होने पर राष्ट्र-लिपि की समस्या का सबसे उत्तम हल भारत की सबसे अधिक प्रचलित लिपि देव-नागरी होगा।"* व्याकरण और लिपिवाली दो बातों को छोड़कर डॉ० चटर्जी द्वारा प्रस्तावित भाषा में और आधुनिक हिंदी (देवनागरी में लिखित) में कोई अंतर नहीं है, क्योंकि डॉ० चटर्जी के ही शब्दों में—"यद्यपि साहित्यिक हिंदी में अरबी-फ़ारसी के घुले-मिले शब्द निर्विरोध आते हैं, उर्दू की आम प्रवृत्ति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो संस्कृत, जो खुद उर्दू की दादी या मौसेरी दादी है, और प्राचीन युग की महान्, मौलिक-साहित्य-युक्त तीन भाषाओं (संस्कृत, ग्रीक

---

* "But sentiment against a fresh, foreign alphabet may be too strong, at least for some time. Failing the Roman script the next best solution for a pan Indian Hindustani would be the Nagri as the most widely used script of India"

(रोमन लिपि के विषय में दूसरे भाग में इस विषय का लेख देखिए।)

और चीनी) में से एक है, हिंदुस्तान में कभी थी ही नहीं।"* डॉ० चटर्जी आगे फिर कहते हैं—"संपूर्ण राष्ट्र को एक ऐसी भाषा मानने के लिये, जो संस्कृत की उपेक्षा करती है और गंभीर शब्दावली के लिये फ़ारस और अरब का मुँह ताकती है, तैयार करना कठिन होगा।" † अतः हमें हिंदी को अपनाकर आगे बढ़ना चाहिए। अगर हिंदी अनावश्यक रूप से संस्कृत-निष्ठ है, या इसमें किसी और प्रकार की त्रुटि है, तो ये दोष ज्यों-ज्यों हिंदी अखिल भारतीय व्यवहार में भारत के विभिन्न संप्रदायों द्वारा प्रयुक्त होगी, त्यों-त्यों अपने आप धीरे-धीरे दूर हो जायँगे। यदि इस हल के विरुद्ध किसी को यह आपत्ति है कि मुसलमान इसे स्वीकार

---

* "Although High-Hindi uses freely all naturalised Perso-Arabic words, Urdu generally behaves as if Sanskrit, its own grand-mother or grand-aunt and one of the three great languages of the ancient world with original literatures (Sanskrit, Greek and Chinese), did not exist in India." [Languages and the Linguistic Problem, p. 29]

† "It would be difficult to persuade the entire Indian people to accept a language which ignores Sanskrit and goes to Persia and Arabia for its words of higher culture."

नहीं करेंगे, तो फिर पहले हम उस राष्ट्र के विषय में ही निश्चित हो लें, जिसके लिये राष्ट्र-भाषा की जरूरत है। किसी भी राष्ट्रीय चीज़ को बनाने के लिये राष्ट्रीय भावना पहले होनी चाहिए। राष्ट्रीय भावना के अभाव में, अगर हमारे पास शुरू-शुरू में एक 'कामन'-भाषा हो, तो भी वह दो खंडों में विभक्त हो जायगी। (उदाहरण के लिये, जैसा पहले कहा जा चुका है, आज बंगाल में ऐसा हो रहा है)। उल्टी गंगा नहीं बहाई जा सकतीं। राष्ट्रीय क्या है, यह भारतीय मुसलमान तुर्की के अपने सहधर्मियों से सीख सकते हैं, जो अपनी भाषा में से अनावश्यक अरबी-फ़ारसी शब्दों का वहिष्कार कर रहे हैं; या फ़ारस के अपने सहधर्मियों से सीख सकते हैं, जो विदेशी अरबी-शब्दों का स्थान ग्रहण करने के लिये अपने प्राचीन आर्य-शब्दों को पुनर्जीवित कर रहे हैं। हम भारतीय जान-बूझकर ऐसे एक भी शब्द को, जो हमें भारतीय भांडार से मिल सकता है, लेने अरब और फ़ारस नहीं जा सकते। संस्कृत-शब्दों का समर्थन केवल इसलिये नहीं किया जा रहा है कि संस्कृत भारतीय है, और कभी भारत में थी (चाहे वह जनता की बोलचाल की भाषा थी या नहीं), वरन् इसलिये कि संस्कृत के शब्द आज भी आधुनिक भारतीय भाषाओं में जीवित हैं, जो भारत के हिंदुओं और मुसलमानों की बोलचाल की और साहित्यिक भाषाएँ हैं*। अगर भारतीय मुसलमान उर्दू का भारतीय-

करण नहीं कर सकते, तो कम-से-कम वे हिंदी को राष्ट्र-भाषा के रूप में अवश्य स्वीकार कर सकते हैं—उसी प्रकार, जिस प्रकार रूस के मुसलमानों ने रूसी-भाषा को अपनी राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है। अगर बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिण के मुसलमानों की संस्कृति उनकी मातृभाषाओं में संस्कृत-शब्द होने के कारण नष्ट नहीं हो गई, तो राष्ट्र-भाषा हिंदी के संस्कृत-शब्दों के कारण ही मुसलमानों की संस्कृति पर कौन-सी आफ़त आ जायगी? यह तो केवल अधिक-से-अधिक व्यक्तियों की अधिक-से-अधिक सुविधा का सवाल है।

भारत की 'कामन' भाषा हिंदी किसी प्रांतीय भाषा को, जिसमें उर्दू भी शामिल है, नहीं निकालेगी। उर्दू के विरुद्ध कोई नहीं है। उर्दू के अलावा देश में और भी भाषाएँ हैं, और हम तो यह चाहते हैं कि प्रत्येक भारतीय जितनी भी भारतीय भाषाएँ सीख सके, उतनी सीखे। परंतु इस बात का कामन भाषा हिंदी के प्रचार से कोई संबंध नहीं होना चाहिए।

राष्ट्र-लिपि

'कामन' भाषा की एक 'कामन' लिपि होनी चाहिए।

---

* देखिए दूसरे भाग में 'गांधीजी और हिंदुस्तानी'-शीर्षक लेख।

अगर भाषा को एक रखना है, तो एक ही लिपि रखना भी अनिवार्य है। यह बात हिंदी और उर्दू के प्रकरण में पहले भली भाँति स्पष्ट की जा चुकी है। जिस प्रकार दोनो लिपियों के रहते तीसरी शैली 'हिंदुस्तानी' का उद्भव नहीं हो सकता, उसी प्रकार यदि कामन भाषा या शैली बन भी गई, तो वह दोनो लिपियों के रक्खे जाने पर अखंड न रह सकेगी (अगर कामन शैली के साथ-साथ हिंदी और उर्दू, निःसंदेह अपनी-अपनी लिपियों में लिखित भी रहती हैं, तो उसका अखंड रहना और भी कठिन है)। अगर कामन भाषा हिंदी ही हो, पर दोनो लिपियाँ उसके लिये मान्य हों, तो वह भी अखंड न रह सकेगी, और वास्तविक हिंदी और उर्दू में विभक्त हो जायगी, इस कारण और भी कि उर्दू-लिपि में साथ-ही-साथ उर्दू भी लिखी जायगी। वर्धा-कॉन्फ्रेंस में सम्मिलित विद्वानों ने इस तत्त्व को नहीं समझा, ऐसा मालूम होता है।

कामन भाषा के लिये दोनो लिपियाँ रखने का कोई कारण या आवश्यकता भी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो लिपियों की बात के पीछे सांप्रदायिक कारण हैं, पर सांप्रदायिकता के आधार पर विचार करने से किसी राष्ट्रीय चीज़ का निर्माण नहीं हो सकता। भाषा के मामले में तो सांप्रदायिक कारणों से प्रेरित होकर दोनो लिपियाँ रखना अपने अभीष्ट अर्थात् एक कामन भाषा के विकास और प्रचार की सिद्धि में ही बाधक है। फिर, यदि सांप्रदायिक

कारणों को शह दी जाती है, तो केवल दो लिपियों—देवनागरी और उर्दू—पर मामला नहीं निपटेगा। सिक्ख कामन भाषा के लिये गुरमुखी मान्य होने की माँग कर सकते हैं, भारतीय ईसाई रोमन-लिपि की माँग कर सकते हैं, जो आज भी सरकारी और ग़ैर-सरकारी रूप से धड़ल्ले के साथ 'हिंदुस्तानी' के लिये व्यवहृत हो रही है, और बंगाली न्याय की दुहाई देकर बँगला-लिपि की माँग कर सकते हैं, जो ३ करोड़ मुसलमानों और २½ करोड़ हिंदुओं की लिपि है। इन सब माँगों और झगड़ों का कहाँ अंत होगा ?

राष्ट्र-भाषा-ज्ञान के इच्छुकों के लिये दोनो लिपियाँ सीखना अनिवार्य होने से छात्रों पर व्यर्थ का बोझा भी पड़ेगा, उनका उत्साह भंग होगा, और समय, शक्ति तथा धन का व्यर्थ नाश होगा। देश अत्यंत निर्धन और निरक्षर है। अधिकांश व्यक्तियों को तो एक लिपि भी भली भाँति सीखने के लिये समय न मिलेगा।

कामन भाषा में भारत-जैसे महान् देश का जो सरकारी कारोबार होगा तथा प्रकाशन छपेगा (उदाहरण के लिये, केंद्रीय सरकार का काम), उसमें दोनो लिपियों के कारण जो असुविधा होगी, बेकार की मेहनत पड़ेगी तथा समय, शक्ति और धन का अपव्यय होगा, उसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। फिर सोचिए, कामन भाषा में जो पुस्तकें तथा समाचार-पत्र पूरे देश के लिये छपेंगे, उनकी

क्या स्थिति होगी। अगर आज अँगरेजी की, जो इस समय देश की सांस्कृतिक भाषा बनी हुई है, और जिसके स्थान में हम 'कामन' भाषा को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, दो लिपियाँ—मान लीजिए, रोमन और देवनागरी—कर दी जायँ, तो कैसी विकट परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिये, चाहे वह दोनो लिपियाँ जानता हो, सदा उनमें से एक का दूसरी की अपेक्षा अधिक महत्त्व होगा। वह उसी में लिखेगा, और उसी में पढ़ना चाहेगा। (यह लिपि का विभाजन बहुत कुछ संप्रदाय या हिंदी और उर्दू के समर्थकों या प्रेमियों के आधार पर होगा)। युक्त प्रांत में, जहाँ स्कूलों में आठवीं कक्षा तक हिंदी और उर्दू तथा हिंदी और उर्दू-लिपियाँ अनिवार्य विषय करने से स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है, जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उससे इस बात की पुष्टि हो जाती है। देवनागरी में लिखित 'कामन' भाषा और उर्दू-लिपि में लिखित 'कामन' भाषा पर लिपि-भेद के कारण भिन्नता की मुहर लग जायगी (यदि कामन भाषा के अलावा हिंदी और उर्दू, निःसंदेह अपनी-अपनी लिपि में लिखित, भी साथ-साथ रहीं, तब ऐसा और भी होगा), उनको हिंदी और उर्दू नाम से संबोधित करना पड़ेगा, और भाषा के, यदि आरंभ में वह एक है तो भी, दो खंड हो जायँगे। हम घूम-फिरकर उसी स्थान पर आ जायँगे, जहाँ से चले थे।

तर्क की अति करने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में, दोनो लिपियों के मान्य होने के पक्ष में कोई तर्क नहीं, परंतु केवल एक लिपि क्यों रक्खी जाय, इसकी बहुत जबरदस्त वजह है। केवल एक लिपि का होना सब प्रकार से अभीष्ट ही नहीं, वरन् वह शर्त है, जिसके बिना एक राष्ट्र-भाषा न बन सकती है, न रह सकती है। केवल 'एक लिपि' की नींव पर एक 'कामन' भाषा का ढाँचा खड़ा किया जा सकता है, और ठहर सकता है। केवल 'एक लिपि' ही भाषा को संप्रदाय-भेद-विहीन एकरूपता दे सकती है, और उसे सब संप्रदायों तथा वर्गों के निकट एक बना सकती है। केवल एक कामन लिपि के माध्यम से ही कामन भाषा, उर्दू तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के आवश्यक शब्दों, धातुओं इत्यादि को अपने में हजम कर सकती है, और एक कामन लिपि का ही वह मंच है, जिस पर भारत के विभिन्न संप्रदायों के उनके अपने-अपने विशिष्ट सांस्कृतिक जीवन से संबंधित शब्द सबके लिये परिचित बन सकते हैं। यद्यपि आरंभ में सरकारी कामन भाषा का एक निश्चित स्वरूप या शैली (आधुनिक हिंदी) होगी, जनता शब्दों के प्रयोग के मामले में एक हद तक स्वतंत्र होगी, और अगर लिपि एक है, तो सबसे अधिक बोधगम्यता का सिद्धांत अपने आप शब्दों के चुनाव के मामले को अंतिम रूप से तय कर देगा, और भाषा के स्वरूप को उचित दिशा में ढाल देगा। लेकिन,

अगर हम 'एक लिपि' के सिद्धांत को छोड़ते हैं, तो हमें एक कामन राष्ट्र-भाषा की आशा को ही सदा के लिये त्याग देना चाहिए। सारे क़िस्से का लुब्बे लुआब यही है।

यहाँ यह दिखलाने के लिये कोई तर्क देने की जरूरत नहीं कि यह 'एक लिपि' देवनागरी ही हो सकती है। उर्दू-लिपि के मुक़ाबले में देवनागरी के ज़बर्दस्त दावे पर पहले विचार किया जा चुका है।

देवनागरी उर्दू-लिपि या किसी अन्य प्रांतीय लिपि का स्थान नहीं लेगी। उर्दू-लिपि में पहले की भाँति उर्दू लिखी जाती रहेगी। उर्दू-लिपि सीखने के विरुद्ध कोई नहीं है। उर्दू-लिपि के अलावा देश में और भी लिपियाँ हैं, और हम तो यह चाहते हैं कि प्रत्येक भारतीय जितनी भी भारतीय लिपियाँ सीख सके, उतनी सीखे। परंतु इसका कामन भाषा या कामन लिपि देवनागरी में कामन भाषा के प्रचार से कोई संबंध नहीं होना चाहिए।

राष्ट्र-भाषा की समस्या का हल

अतः राष्ट्र-भाषा की समस्या का समाधान यह है—सरल हिंदी को हिंदी-लिपि अर्थात् देवनागरी में प्रचारित किया जाय, परंतु जहाँ एक ओर लिपिवाली बात का कड़ाई के साथ पालन हो, वहाँ दूसरी ओर विभिन्न लेखकों (तथा वक्ताओं) को शब्द-प्रयोग के मामले में थोड़ी-सी

स्वतंत्रता दे दी जाय। इस कामन भाषा का नाम हिंदी ही हो सकता है, हिंदुस्तानी कदापि नहीं। नाम का प्रभाव अत्यंत व्यापक होता है, और इतिहास में प्रायः नाम ने ही मामलों का वारा-न्यारा किया है। 'हिंदी' नाम ही कामन भाषा का स्वरूप सबकी आँखों के सामने ला खड़ा कर सकता है, और उसका संबंध मध्य-देश की उस प्राचीन भाषा से स्थापित कर सकता है, जिसकी परंपरा एक हज़ार वर्ष पुरानी है, और जो आज तक 'हिंदी' नाम से पुकारी जाती रही और पुकारी जा रही है।

समस्या पर निष्पक्ष होकर और यथार्थ को ध्यान में रखकर विचारने से यह हल निकलता है। इसमें सांप्रदायिक विचारों के लिये कोई गुंजाइश नहीं। गांधीजी से तथा हिंदुस्तानी के अन्य समर्थकों से साग्रह अनुरोध है कि वे इस पर तर्क-बुद्धि से गंभीरता-पूर्वक विचार करें, और यदि उनको यह संतोष हो जाय कि यही वैज्ञानिक, राष्ट्रीय और व्यावहारिक हल है, तो वे मुसलमानों और उर्दूवालों के कट्टर विरोध के बावजूद इसे क्रियान्वित करने में न हिचकें। चूँकि समस्या का यही एक मुमकिन हल है, किसी-न-किसी दिन इसे सब स्वीकार कर लेंगे। गांधीजी का प्रभाव उस दिन को निकट ला सकता है। किंतु यदि गांधीजी और हिंदुस्तानीवाले अवसरवादिता का अनुसरण करेंगे, और कुछ लेखकों या कुछ मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के

ये किसी क़िस्म की हिंदुस्तानी गढ़ने का प्रयत्न करेंगे, तो नका सारा प्रयास व्यर्थ जायगा। सच्चे सिद्धांतों पर रूढ़ रहने से सफलता मिलने में देर हो सकती है, परंतु नको त्याग देने से सफलता कभी प्राप्त ही न होगी।

'हिंदुस्तानी' के समर्थकों से कुछ प्रश्न

'हिंदुस्तानी' के जो पक्षपाती ऊपरवाले हल से संतुष्ट नहीं होते हैं, अर्थात् अन्य बहुभाषी देशों की भाँति भारत की वर्तमान, प्रचलित, उन्नत साहित्यिक भाषाओं में से एक को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिये तैयार नहीं हैं, और कामन भाषा के लिये एक नवीन शैली 'हिंदुस्तानी' गढ़ना ही चाहते हैं, उनसे हम यह पूछना चाहेंगे कि वे किस तर्क के अनुसार इसे केवल हिंदी और उर्दू में से प्रकट करना चाहते हैं? राष्ट्र-भाषा या कामन भाषा पूरे राष्ट्र के लिये है, और राष्ट्र में हिंदी और उर्दू के अलावा और भी अति उन्नत देशी भाषाएँ हैं। उन्हें क्यों छोड़ दिया जाता है? अगर कामन भाषा के लिये केवल हिंदी और उर्दू 'फ़ीडर' इसलिये बनाई जाती हैं कि ये दोनो एक ही भाषा 'हिंदुस्तानी' की दो 'शैलियाँ' हैं, तो एक तीसरी 'शैली' 'बाबू हिंदुस्तानी' भी तो है, जिसको हिंदू और मुसलमान एक समान बोलते और समझते हैं, अर्थात् जो अब भी कामन भाषा हिंदुस्तानी बनी-बनाई मौजूद है, और जिसकी साहित्यिक क्षमता हिंदी या उर्दू

की क्षमता से या दोनो की सम्मिलित क्षमता से कहीं अधिक है, क्योंकि यह आवश्यक शब्दों के लिये (प्रायः अनावश्यक शब्दों के लिये भी) अँगरेज़ी पर अवलंबित है। 'हिंदुस्तानी' की इस तीसरी शैली को क्यों छोड़ दिया जाता है ? वास्तव में देश में इस समय जो लोग ऐसे हैं कि किसी भी प्रकार की साहित्यिक 'हिंदुस्तानी' की, जो इस समय मौजूद है या बनाई जायगी, गंभीर संस्कृत-शब्दावली या अरबी-फ़ारसी-शब्दावली या आधी संस्कृत और आधी अरबी-फ़ारसी-शब्दावली को समझ सकते हैं, उनमें से एक भी ऐसा नहीं जो 'बाबू हिंदुस्तानी' को गंभीर अँगरेज़ी-शब्दावली न समझता हो। आज तक हमारे देखने में ऐसा कोई आदमी नहीं आया, जो 'दशमलव' या 'आशार्या' जानता हो, लेकिन 'डेसीमल' न जानता हो। जहाँ 'दशमलव' या 'आशार्या' बोला जा सकता है, या जो लोग 'दशमलव' या 'आशार्या' बोल सकते हैं, वे न 'दशमलव' बोलते हैं, न 'आशार्या', बल्कि 'डेसीमल' बोलते हैं। यही हाल 'हिंदुस्तानी' के अधिकांश गंभीर शब्दों का है। 'बाबू हिंदुस्तानी' के अँगरेज़ी शब्द देश में समान रूप से व्याप्त हैं, और फिर आधी दुनिया इन्हें समझती है। सारांश यह कि राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी के लिये हिंदी, उर्दू और 'बाबू हिंदुस्तानी', तीनो को 'फ़ीडर' मानकर उसे गढ़ने की ज़रूरत भी नहीं, वह सच्चे अर्थों में कामन भाषा 'बाबू हिंदुस्तानी' बनी-बनाई

मौजूद है। अगर 'बाबू हिंदुस्तानी' अभी लिखी नहीं गई, तो उससे क्या हुआ ? बोली तो जाती है। सच तो यह है कि 'बाबू हिंदुस्तानी' हिंदी और उर्दू के लिखित रूपों की अपेक्षा कहीं अधिक बोली जाती है। शीघ्र ही रोमन-लिपि में वह लिख भी जायगी। शुरुआद हो चुकी है (देखिए डॉ० रामकुमार वर्मा की 'रेशमी टाई') ; अगर अँगरेजी-शब्द विदेशी हैं, और इसलिये नहीं लिए जा सकते, तो अरबी-फ़ारसी के शब्द भी विदेशी हैं, और हिंदुस्तानी में आधे अरबी-फ़ारसी के शब्द नहीं लिए जा सकते। अगर अरबी-फ़ारसी के शब्द इसलिये स्वदेशी हैं कि वे भारतीयों द्वारा बोले जाते हैं, तो अँगरेजी के शब्द भी भारतीयों द्वारा बोले जाते हैं, बल्कि जहाँ आज अरबी-फ़ारसी भारत में किसी की मातृभाषा नहीं हैं, वहाँ अँगरेजी आज लाखों भारतीयों की मातृभाषा है, और जहाँ आज अरबी-फ़ारसी भारत में कहीं नहीं बोली जाती, वहाँ अँगरेजी लाखों बोलते हैं। अगर उर्दू हिंदुस्तान के बाहर कहीं नहीं बोली जाती; तो 'बाबू हिंदुस्तानी' भी हिंदुस्तान के बाहर कहीं नहीं बोली जाती। अगर अरबी-फ़ारसी एक भारतीय संप्रदाय की सांस्कृतिक भाषाएँ हैं, और इसलिये राष्ट्र-भाषा में उनका प्रतिनिधित्व होना जरूरी है, तो अँगरेजी भी लाखों भारतीयों की सांस्कृतिक भाषा है। अगर ऐसा है कि संस्कृत, अरबी और फ़ारसी से काम न चलने पर ही अँगरेजी का सहारा

ढूँढ़ेंगे, तो ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि संस्कृत से काम न चलने पर ही अरबी, फ़ारसी और अँगरेज़ी का सहारा ढूँढ़ा जाय? आधे संस्कृत और आधे अरबी-फ़ारसी या किसी और अनुपात में अरबी-फ़ारसी-शब्दों को लेने का क्या कारण है? अँगरेज़ी-शब्दों का भी अनुपात क्यों नहीं निर्धारित किया जाता? सच तो यह है कि अधिकांश भारतीय मुसलमान हिंदुओं के ही वंशज हैं, और जो चीज़ हिंदुओं के पूर्वजों की देन है, वह मुसलमानों की भी है, और इस कारण मुसलमानों को संस्कृत को प्रथम स्थान देने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किंतु अगर वे अपने आपको एक पृथक् राष्ट्र बनाने पर तुले ही हुए हैं, और किसी भारतीय चीज़ को अपनी चीज़ मानने के लिये तैयार नहीं, तो एक राष्ट्र-भाषा ही क्या अर्थ रखती है? पहले इसी बात का निबटारा क्यों नहीं कर लिया जाता?

केवल हिंदी और उर्दू को 'फ़ीडर' बनाकर या केवल हिंदी और उर्दू के कोषों से शब्द छाँटकर या केवल हिंदी और उर्दू के कारीगरों द्वारा 'हिंदुस्तानी' क्यों गढ़ी जाय—इसका हिंदुस्तानीवालों के पास क्या उत्तर है?

क्या हिंदुस्तानीवाले बता सकते हैं कि अगर वे एक कामन राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी गढ़ना ही चाहते हैं, तो निम्न-लिखित सिद्धांतों के अनुसार क्यों नहीं चलते?—

(१) देश की जनता की अंतःप्रांतीय व्यवहार की भाषा

अर्थात् 'लघु हिंदी' (जिसका नामकरण डॉ० चटर्जी ने 'बाज़ार हिंदुस्तानी' भी किया है) को आधार माना जाय।

(२) फिर उसमें उस प्रदेश की लोक-भाषा के शब्द जोड़े जायँ, जहाँ की मातृभाषा खड़ी बोली हिंदी है (अर्थात् उत्तरी दोआब)।

(३) फिर उसमें उस प्रदेश की जन-भाषा के शब्द जोड़े जायँ, जहाँ की मातृभाषाएँ उस भाषा की अन्य बोलियाँ हैं जिसकी एक बोली खड़ी बोली है (अर्थात् पूर्वी और पश्चिमी हिंदी का प्रदेश—युक्त प्रांत और मध्य प्रांत)। भाग्य-वश यहाँ तक हिंदू-मुसलिम-समस्या की अड़चन नहीं है, क्योंकि जनता या ग्रामीण सब जगह बिना किसी संप्रदाय या जाति-भेद के एक ही भाषा या बोली बोलते और एक ही शब्दावली का प्रयोग करते हैं। साथ ही यहाँ तक आते-आते भाषा साधारण दैनिक व्यवहार के योग्य हो जायगी (परंतु इससे अधिक के लिये नहीं)।

[यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि ऊपर बताए हुए ढंग से जनता की हिंदुस्तानी बनाने का काम डॉ० ताराचंद-सरीखे व्यक्तियों को नहीं सौंपा जा सकता, जिन्हें न ग्राम्य जीवन का अनुभव है न लोक-भाषा का ज्ञान। उदाहरण के लिये, लखनऊ के मध्य से, जो उर्दू का एक गढ़ समझा जाता है, १० मील किसी दिशा में चलते ही 'मेहमान'-शब्द का लोप हो जाता है। वह 'अतिथि' तो

नहीं हो जाता, पर 'पाहुन' हो जाता है। किंतु डॉ० ताराचंद-जैसे व्यक्तियों के दिमाग में 'मेहमान' और 'अतिथि' तो आएँगे (और वे हिंदी और उर्दू के कोषों में भी मिल जायँगे), पर 'पाहुन', जिसे करोड़ों, अर्थात् 'मेहमान' या 'अतिथि' बोलनेवालों और समझनेवालों से कहीं अधिक, बोलते और समझते हैं, कभी नहीं आएगा। यही बात लोक-भाषा के बहुत-से शब्दों के साथ लागू है। डॉ० ताराचंद और मौलाना नदवी मरसियों, मसनवियों और दीवानों के पंडित हो सकते हैं, परंतु लोक-साहित्य को वे क्या जानें। महात्मा गांधी-जैसे व्यक्ति भी, जिनकी मातृभाषा हिंदी (या हिंदुस्तानी) नहीं है, जनता की हिंदुस्तानी बनाने में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। इस हिंदुस्तानी को बनाने का काम केवल वे ही विद्वान् कर सकते हैं, जिनका गाँवों से आंतरिक संबंध है, जिन्हें जन-भाषा का प्रत्यक्ष ज्ञान है, और जिनकी मातृभाषा हिंदी की कोई बोली है। इस संबंध में पहला नाम पंडित रामनरेश त्रिपाठी का है, जिनका अग्रणी संग्रह 'ग्राम-गीत' उनके जन-हिंदी (और जन-पंजाबी, काश्मीरी और राजस्थानी) के बेजोड़ ज्ञान का ज्वलंत प्रमाण है, और जिन्होंने न केवल युक्त प्रांत और मध्य प्रांत के, वरन् बिहार, राजस्थान, गुजरात, पंजाब और काश्मीर के गाँवों में भी इसी उद्देश्य से १५ वर्ष घूम-फिरकर व्यतीत किए हैं और इस कारण जो और सबकी अपेक्षा उत्तरी भारत की जनता

की कथित भाषाओं और बोलियों का अधिक गहरा ज्ञान रखने का दावा कर सकते हैं। सौभाग्य से वह अब भी हमारे मध्य में हैं ❀।]

(४) साहित्यिक व्यंजना के लिये फिर भी जिन शब्दों की आवश्यकता रहती है, चूँकि वे कहीं की दैनिक व्यवहार की जन-भाषा में नहीं हैं, उनके लिये देश की विभिन्न अति उन्नत, लिखित, साहित्यिक भाषाओं का सहारा लिया जाय। यदि एक ही भाव या वस्तु के लिये दो या अधिक शब्द मिलते हैं, तो उनमें से सबसे अधिक प्रचलित शब्द लिया जाय। इस प्रकार का चुनाव करना पड़ेगा, यदि एक ऐसी कामन भाषा बनाना अभीष्ट है, जिसका स्वरूप थोड़ा-बहुत भी निश्चित है, और यदि कामन भाषा से वह काम लेना है, जिसके लिये उसकी जरूरत है। 'आशार्या' और 'दशमलव' या 'वज़ारत' और 'मंत्रिमंडल' दोनो नहीं लिए जा सकते। जो शब्द देशी भाषाओं से नहीं मिल सकते, या जो देशी धातुओं से नहीं बनाए जा सकते, उन्हें अँगरेजी से लिया जाय, क्योंकि अँगरेजी अंतरराष्ट्रीय और संसार की प्रमुख भाषा है। संस्कृत, फ़ारसी और अरबी का सवाल ही नहीं उठता। जो शब्द जीवित भारतीय भाषाओं

❀ परंतु गांधीजी के हिंदुस्तानी बोर्ड के सदस्यों के मध्य में नहीं हैं। हाँ, डॉ० ताराचंद और मौलाना नदवी अवश्य हैं।

(दूसरे भाग में 'गांधीजी और हिंदुस्तानी'-शीर्षक लेख देखिए)

से मिल सकते हैं, उनके लिये इन भाषाओं के पास जाने का कोई कारण नहीं। पहले भारत की जीवित भाषाओं का, जिनमें हिंदी और उर्दू भी शामिल हैं, सहारा लिया जाय, और फिर अंतरराष्ट्रीय भाषा अँगरेज़ी का।

(५) इस कामन भाषा की लिपि केवल एक देवनागरी हो। कारण पहले बतलाए जा चुके हैं।

(६) यह कामन भाषा किसी भारतीय भाषा और उसकी लिपि को—निःसंदेह हिंदी और उर्दू या उर्दू-लिपि को भी नहीं—अपने-अपने विशिष्ट क्षेत्रों में स्थान-च्युत न करे। यह कामन भाषा केवल अखिल भारतीय व्यवहार में प्रयुक्त हो, और अँगरेज़ी का स्थान ले। इसका पठन-पाठन भी अँगरेज़ी की तरह द्वितीय भाषा के रूप में देश-भर में अनिवार्य हो ❀।

उपरि-लिखित सिद्धांतों के अनुसार निर्मित भाषा में यदि उर्दू का (या अरबी-फ़ारसी का) अंश अधिक नहीं आता है, तो इसका कोई इलाज नहीं। किसी को 'वेटेज' (अतिरिक्त

❀ इस विवेचन से यह न समझ लेना चाहिए कि लेखक इस प्रकार से राष्ट्र-भाषा का बनाना संभव या व्यावहारिक समझता है। अगर हिंदुस्तानीवाले राष्ट्र-भाषा का स्थान देने के लिये एक नई भाषा या शैली गढ़ने का शौक़ पूरा करना ही चाहते हैं, तो उन्हें तर्क और न्याय के अनुसार जिन सिद्धांतों का पालन करना चाहिए, यहाँ केवल उनका निर्देशन किया गया है।

प्रतिनिधित्व) नहीं दिया जा सकता, क्योंकि स्वयं उर्दू के पक्षपातियों के कथनानुसार उर्दू केवल मुसलमानों की नहीं, वरन् हिंदुओं और मुसलमानों, दोनो की भाषा है, और इसलिये अगर कामन भाषा में उर्दू का विशेष प्रतिनिधित्व नहीं होता है, तो इसका संबंध दोनो संप्रदायों से, बल्कि डॉ० अब्दुल हक़ की थ्योरियों के अनुसार हिंदुओं से अधिक है। फिर 'वेटेज' किसको, किस संप्रदाय को दिया जाय ? अल्प-संख्यक कौन है ?

अगर गांधीजी या हिंदुस्तानी के अन्य समर्थक यह समझते कि वर्तमान स्थिति में मुसलमान इस कामन भाषा को नहीं अपनाएँगे, परंतु साथ ही वे पहले एक कामन भावना उत्पन्न किए बिना और उन बातों को दूर किए बिना, जिनके कारण मुसलमान नहीं अपनाएँगे, कामन भाषा की गाड़ी आगे ठेलना ही चाहते हैं, तो वे उपरि-लिखित पहले तीन सिद्धांतों के अनुसार चलें, और उसके बाद रुक जायँ। वहाँ तक किसी प्रकार की हिंदू-मुस्लिम-समस्या उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वहाँ तक भाषा में अधिकतर वे ३५ हज़ार देशज शब्द ही आते हैं, जो उर्दू के प्रसिद्ध शब्द-कोष 'फ़रहंग-ए-आसफ़िया' में भी मौजूद हैं, अर्थात् जिन्हें हिंदी और उर्दू, दोनो ही अपना बतलाती हैं। बाहराल हिंदुस्तानी-वाले इस 'बेसिक हिंदी' का देवनागरी-लिपि में (केवल देवनागरी में) बंगाल, महाराष्ट्र और दक्षिण में प्रचार कर

सकते हैं। ऐसा करने से कम-से-कम साधारण अंतर प्रांतीय व्यवहार के लिये एक निश्चित और स्थायी भाषा हो जायगी, और एक कामन साहित्यिक भाषा के स्वाभाविक विकास के लिये नींव तैयार हो जायगी। साहित्यिक विकास का होना संभव इसलिये होगा कि लिपि एक ही होगी, और ज्यों-ज्यों लोग इस बेसिक हिंदी में अपने भाव प्रकट करेंगे, त्यों-त्यों भाषा विकसित होगी। साहित्यिक व्यंजना के लिये जिन गंभीर शब्दों की आवश्यकता होगी, वे अपने आप स्वाभाविक रूप से छँट-छँटाकर आ जायँगे, और कालांतर में एक समृद्ध कामन भाषा बन जायगी, और फिर उसका स्वरूप निश्चित किया जा सकेगा। जैसा पहले निर्देश किया जा चुका है, यह सब होने के लिये केवल एक लिपि का होना अनिवार्य है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि इस सबके होने में काफ़ी समय लगेगा, और तब तक अँगरेज़ी का स्थान अक्षुण्ण बनाए रखना होगा, और देश की प्रगति में निश्चय बाधा पड़ेगी। इसकी जिम्मेदारी उन हिंदुस्तानी-वालों के सिर पर होगी, जिन पर सांप्रदायिकता का भूत सवार है, और इस कारण जो समस्या को वैज्ञानिक हल मानने को तैयार नहीं हैं।

कुछ अन्य प्रश्न

अंत में हम हिंदुस्तानीवालों से, विशेषकर गांधीजी से, उनके आंदोलन के कुछ पहलुओं के विषय में, जिनका हिंदी

से विशेष संबंध है, कुछ प्रश्नों के उत्तर चाहेंगे। हिंदी के लिये ये जीवन-मरण के प्रश्न हैं, और आशा है, गांधीजी और हिंदुस्तानी के अन्य पक्षपाती इनका उत्तर देंगे—

(१) हिंदी-भाषी युक्त प्रांत तथा मध्य प्रांत में और बिहार, राजस्थान आदि हिंदी-प्रांतों में हिंदुस्तानी का हिंदी के सामने क्या स्थान होगा ? क्या इन प्रांतों में 'हिंदुस्तानी' शिक्षा और शासन में हिंदी का स्थान हड़प लेगी ? क्या 'हिंदुस्तानी' के साथ-साथ हिंदी को जीवित रहने और विकसित होने दिया जायगा ? क्या हिंदी को इन प्रांतों की प्रमुख भाषा होने के नाते अपना प्राप्य स्थान दिया जायगा, अर्थात् इन प्रांतों में हिंदी को राजभाषा और शिक्षा का माध्यम रहने या होने दिया जायगा ? कांग्रेस-मंत्रिमंडलों के शासन-काल में हमको कटु अनुभव हो चुका है कि किस प्रकार हिंदुस्तानी लादकर हिंदी की प्रगति में बाधा डाली गई, और हिंदी को अपने स्वत्व से वंचित किया गया। और, वह हिंदुस्तानी भी उर्दू से भिन्न न थी। युक्त प्रांत में स्कूलों में हिंदुस्तानी की जो 'कामन रीडरें' ('हिंदुस्तानी बोलचाल'-नामक) प्रचलित हैं, उनकी भाषा सरल उर्दू है, जनता या ग्रामीणों की हिंदुस्तानी नहीं। बिहार में, जहाँ की बोली जानेवाली भाषाओं के सबसे निकट यदि कोई हिंदुस्तानी है, तो वह हिंदी है, डॉ० राजेंद्रप्रसाद की सम्मति और स्वीकृति से हिंदुस्तानी के नाम से 'बेगम सीता'-जैसे पापमय और

अपवित्र शब्द उन्हीं डॉ॰ सैयद महमूद द्वारा प्रचारित किए गए, जिन्होंने वर्धा-कान्.फ्रेंस में 'हिंदी' नाम के प्रति अपना मौखिक प्रेम जताया। मध्य प्रांत में, विद्या-मंदिर-योजना में, शिक्षा का माध्यम हिंदुस्तानी बनाई गई, हिंदी नहीं। इन सब हिंदी प्रांतों में कांग्रेस-नेताओं ने मुसलमानों को खुश करने के लिये हिंदुस्तानी के नाम से अपने भाषणों में जान-बूझकर, कृत्रिम उपायों से चुन-चुनकर उर्दू-शब्दों को ठूँसा*, और दुनिया-भर में ढोल पीटकर यह प्रचारित किया कि इन प्रांतों की 'आमफ़हम', जनता की बोलचाल की भाषा उनकी यही हिंदुस्तानी है, हिंदी नहीं। इस

---

* विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि युक्त प्रांत में कई कांग्रेस-मंत्री अपने सार्वजनिक भाषण अँगरेज़ी में लिखकर 'हिंदुस्तानी' में अनुवाद करने के लिये सेक्रेटेरियट के अनुवाद-विभाग (Tranolation Department) को दे देते थे, और जब अनुवाद उनके पास आता था, तो अक्सर यह कहकर लौटा देते थे कि यह अच्छी हिंदुस्तानी नहीं है, इसमें उर्दू के शब्द कम आए हैं। इस प्रकार जब तीन-चार बार फाड़-फाड़कर दुबारा अनुवाद हो चुकता था, तब कहीं जाकर 'हिंदुस्तानी' उनके मन तले आती थी। बाद को अनुवाद-विभाग के कर्मचारी मेहनत बचाने के लिये पहले से ही सरल उर्दू में अनुवाद करके भेजने लगे। फिर किसी ने कोई आपत्ति न की।

हिंदुस्तानी आंदोलन से सदैव हिंदी की हानि हुई है, क्योंकि उर्दू का दिल्ली, पंजाब, सिंध और सीमा-प्रांत में अखंड राज्य है, और वहाँ उर्दू बिना किसी हिंदुस्तानी की विघ्न-बाधा के फलती-फूलती रहती है, और अबाध रूप से प्रगति और विकास को प्राप्त होती रहती है। हिंदी की हानि होने का एक और कारण यह भी है कि चूँकि हिंदुस्तानी लिखने के लिये उर्दू-लिपि को हिंदी-लिपि के समान महत्त्व दिया जाता है, इसलिये हिंदी के कितने ही शब्द, विशेषकर संस्कृत-शब्द, जो उर्दू-लिपि में ठीक तरह से नहीं लिखे जा सकते, बिलकुल विकृत और भ्रष्ट हो जाते हैं, और बहुधा उनका बिलकुल लोप ही हो जाता है, और उनकी जगह पर अरबी-फ़ारसी के शब्द आ जाते हैं। यह बात विचारातीत है कि दिल्ली, पंजाब, सीमा-प्रांत और सिंध में शासन और शिक्षा में कभी उर्दू हटाकर हिंदुस्तानी रख दी जायगी, या कभी हिंदुस्तानी और हिंदी-लिपि को कोई उल्लेखनीय स्थान दिया जायगा, या कभी हिंदी और उर्दू, दोनो सबके लिये अनिवार्य विषय कर दी जायँगी। क्या गांधीजी यह आश्वासन दे सकते हैं कि जब कांग्रेस युक्त प्रांत, मध्य प्रांत और बिहार में शासन की बागडोर फिर सँभालेगी, तब इन प्रांतों में शासन और शिक्षा में हिंदी का स्थान हिंदुस्तानी को नहीं दिया जायगा, और हिंदुस्तानी तथा उर्दू-लिपि को कम-से-कम तब तक नहीं चलाया जायगा,

और उर्दू को तब तक अनिवार्य विषय नहीं बनाया जायगा, जब तक दिल्ली, पंजाब, सीमा-प्रांत और सिंध हिंदुस्तानी, हिंदी-लिपि और हिंदी को वही स्थान देने के लिये तैयार नहीं होते? क्या गांधीजी कम-से-कम यह आश्वासन दे सकते हैं कि वह कांग्रेस-मंत्रिमंडलों को इस नीति का पालन करने की सलाह देंगे? जब गांधीजी और हिंदुस्तानीवाले हिंदी-उर्दू दोनो पढ़ने पर जोर देते हैं, तो उनके लिये क्या यह उचित नहीं कि इसके पहले कि वे युक्त प्रांत में, जहाँ बहुत हद तक हिंदी और उर्दू दोनो अनिवार्य विषय हैं, उर्दू को और व्यापक करें, वे दिल्ली, पंजाब, सीमा-प्रांत और सिंध की सरकारों को अपने यहाँ हिंदी-उर्दू दोनो अनिवार्य विषय करने के लिये तैयार करें?

(२) वर्धा-कॉन्फ्रेंस में गांधीजी ने यह कामना प्रकट की कि हिंदी और उर्दू फ़्यूज़ होकर एक हो जायँ, लेकिन साथ ही श्रीसियारामशरण गुप्त के एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि हिंदुस्तानी से अभिप्राय हिंदी और उर्दू की प्रगति रोकने से नहीं है। मान लीजिए, हिंदी और उर्दू अपने आप फ़्यूज़ होकर एक नहीं होतीं, तो क्या हमारा गांधीजी के कथन का यह मतलब निकालना ठीक होगा कि जब हिंदुस्तानी बन जायगी, और देश उसे स्वीकार कर लेगा, तब भी वह हिंदी और उर्दू को उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषाओं के नाते अपने-अपने स्थान से नहीं

निकालेगी, अर्थात् तब भी हिंदी और उर्दू आज की भाँति बिना किसी विघ्न-बाधा के फलती-फूलती रहेंगी, और आज की भाँति उनका उत्तरी भारत में शिक्षा के माध्यम के रूप में तथा शासन और सार्वजनिक जीवन में उसी प्रकार एकाधिकार रहेगा, जिस प्रकार अन्य प्रांतीय भाषाओं का अपने-अपने क्षेत्रों में एकाधिकार होगा ? दूसरे शब्दों में, क्या गांधीजी के कथन का यह मतलब है कि हिंदुस्तानी केवल अखिल भारतीय व्यवहार के लिये बनाई जा रही है, और उसका प्रयोग केवल समस्त भारत से संबंधित कार्य में, उदाहरण के लिये केंद्रीय सरकार के काम में, होगा, अर्थात् हिंदुस्तानी प्रांतीय भाषाओं, जिनमें हिंदी और उर्दू भी शामिल हैं, के अतिरिक्त होगी, और कामन भाषा होगी ?

(३) क्या हिंदुस्तानी २० प्रतिशत हिंदी और ८० प्रतिशत उर्दू का गड़बड़-घोटाला होगी, जिसकी प्रवृत्ति खुल्लमखुल्ला संस्कृतज शब्दों के विरुद्ध होगी, और जो मुसलमानों को खुश करने के लिये सब सिद्धांतों को ताक़ पर रखकर बनाई जायगी ? ऐसा सोचने का क्या आधार है, यह बतलाने के लिये हिंदुस्तानी आंदोलन से संबंधित कुछ चीजों के नाम काफ़ी हैं। क्या गांधीजी और हिंदुस्तानीवाले बता सकते हैं कि 'हिंदुस्तानी तालीमी संघ' का नाम 'हिंदुस्तानी शिक्षा-संघ' क्यों नहीं रक्खा गया ? या 'नई तालीम' को 'नई शिक्षा'

क्यों न कहा जाय ? क्या 'शिक्षा-'शब्द को उत्तरी भारत में 'तालीम' की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह और सौगुना अधिक व्यक्ति नहीं समझते ? क्या 'शिक्षा' न केवल उत्तरी भारत, वरन् समग्र भारत के गाँवों में जीवित और प्रचलित नहीं है ? उत्तरी भारत में या पूरे भारत में 'तालीम' समझने-वाले कितने ग्रामीण हैं ? क्या 'शिक्षा' भारत की ग्यारह साहित्यिक भाषाओं का, जो भारत में लिखी, पढ़ी और बोली जाती हैं, एक जीवित और प्रचलित शब्द नहीं है ? विदेशी शब्द 'तालीम' को भारत की राष्ट्र-भाषा में 'शिक्षा' शब्द निकालने का क्या अधिकार है, जो सर्वथा स्वदेशी और भारतीय है, जो भारत को छोड़कर और कहीं नहीं है, जो हमारा हजारों वर्ष पुराना, प्रिय और मनोहर शब्द है, और जिसके साथ हमारी न-जाने कितनी सुखद और प्रिय भावनाएँ जुड़ी हुई हैं ? क्या उस भारत के भांडार में, जिसने विश्व को शिक्षा दी, जिसने आदि-कवि वाल्मीकि को जन्म दिया, और जो ज्ञान-गुरु कहलाता है, 'तालीम' के लिये एक शब्द नहीं है, जो हम उसकी राष्ट्र-भाषा के लिये अरब और फ़ारस का मुँह ताकें ? सारा संसार क्या कहेगा ? यह राष्ट्रीयता है या घोर सांप्रदायिकता और अराष्ट्रीयकरण की पराकाष्ठा ? अगर 'हिंदुस्तानी' से यही अभिप्राय है और येही वे सिद्धांत हैं, जिनके आधार पर हिंदुस्तानी का निर्माण होगा, तो गांधीजी और हिंदुस्तानीवाले याद

रक्खें कि गीता का देश भारत इसे कदापि स्वीकार न करेगा, कुछ व्यक्तियों को कुछ काल के लिये झाँसा देने में हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा भले ही सफल हो जाय। अत्यंत दुःख और क्षोभ का विषय है कि जहाँ तुर्की और फ़ारस के मुसलमान अपनी-अपनी भाषा में से प्रचलित और घुले-मिले विदेशी शब्द भी निकालकर अपने पुराने स्वदेशी शब्द पुनर्जीवित कर रहे हैं, वहाँ हम भारत में, भारत के सबसे महान् राष्ट्रीय नेता के नेतृत्व में, भारत की राष्ट्र-भाषा में राष्ट्रीयता की दुहाई देकर पुराने, जीवित और बहु-प्रचलित शब्दों के स्थान में विदेशी शब्द जान-बूझकर भर रहे हैं!

(४) आख़िर 'कामन भाषा' के लिये शब्दों का चुनाव किन सिद्धांतों के अनुसार होगा, और इन सिद्धांतों को कौन क्रियान्वित करेगा?

(५) क्या 'हिंदुस्तानी' वही भाषा होगी, जिसे आज कितनी ही सरकारी और ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ 'हिंदुस्तानी' का नाम देकर प्रचारित कर रही हैं? शायद गांधीजी तथा हिंदुस्तानी के अन्य समर्थकों को यह बतलाने की ज़रूरत नहीं कि 'हिंदुस्तानी' नाम, कांग्रेस और गांधीजी द्वारा उसकी पैरवी और संरक्षण, और इस शब्द की अस्पष्टता और संदिग्धता से लाभ उठाकर किस प्रकार हिंदुस्तानी के नाम से उर्दू का प्रचार किया जा रहा है। शायद उनसे यह भी छिपा नहीं कि भारत-सरकार के

सूचना और ब्राडकास्टिंग-विभाग के अंतर्गत आल इंडिया रेडियो (तथा इंफ़ार्मेशन फ़िल्म सर्विस) किस प्रकार न केवल हिंदुस्तानी के नाम से शुद्ध उर्दू का प्रयोग कर रहा है, वरन् हिंदुस्तानी के बहाने हिंदी को समूल निकालकर उसने देश के ऊपर उर्दू लादने की ठान ली है। आल इंडिया रेडियो की नीति अथवा कुनीति की निंदा करना तो अलग रहा, आज तक गांधीजी ने यह तक कहने का कष्ट नहीं किया कि उनकी हिंदुस्तानी रेडियो की हिंदुस्तानी नहीं होगी। उनकी चुप्पी का क्या यह अर्थ नहीं निकलता कि वह हिंदी को बिलकुल निकालकर हिंदुस्तानी का प्रतिष्ठित होना पसंद करते हैं, और उनकी हिंदुस्तानी रेडियो की हिंदुस्तानी से भिन्न न होगी ? क्या इसकी पुष्टि इससे नहीं हो जाती कि अभी हाल में जब सर सुलतान अहमद ने अपनी नीति के समर्थन में गांधीजी तथा उनके हिंदुस्तानी-आंदोलन का नाम लिया, तब भी वह चुप रहे ? उपरि-लिखित द्वितीय प्रश्न का उत्तर यदि 'हाँ' है, तो क्या उसका अर्थ यह नहीं निकलता कि जब हिंदुस्तानी बन जायगी और देश द्वारा स्वीकृत हो जायगी, तब भी वह हिंदी-उर्दू-प्रदेश के स्टेशनों अर्थात् पेशावर, लाहौर, दिल्ली और लखनऊ में हिंदी और उर्दू का स्थान नहीं लेगी, और उसका प्रयोग रेडियो केवल अखिल भारतीय प्रोग्रामों, उदाहरण के लिये कुछ घोषणाओं या हिंदी और उर्दू के समाचार-बुलेटिनों के अतिरिक्त समस्त भारत के लिये एक

तीसरे बुलेटिन, में कर सकेगा, अथवा उस जगह कर सकेगा, जहाँ एक कामन भाषा के विना काम नहीं चल सकता ? हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा के कर्णधार और विशेषकर गांधीजी क्या निम्न-लिखित आशय का एक वक्तव्य निकालकर आल इंडिया रेडियो को अपनी वर्तमान नीति पर आरूढ़ रहने के एक नए बहाने से वंचित कर देंगे, और हिंदी संसार की उचित, व्यावहारिक और न्याय-संगत माँग का समर्थन करेंगे ?—

(क) आल इंडिया रेडियो की हिंदुस्तानी वास्तविक हिंदुस्तानी नहीं है, वह तो उर्दू है।

(ख) किसी सरकारी विभाग को एक नई भाषा गढ़ने का अधिकार नहीं है। इस समय तक ऐसी कोई साहित्यिक हिंदुस्तानी नहीं है, जिससे रेडियो का काम चल सके, और जो हिंदी जाननेवालों और उर्दू जाननेवालों दोनों की समझ में एक समान आ सके, अथवा जो हिंदी और उर्दू का स्थान ले सके*। जब तक शिक्षा-प्रणाली नीचे से ऊपर तक नहीं बदल दी जाती, तब तक ऐसी भाषा का बनना या होना संभव भी नहीं, अर्थात् तब तक हिंदुस्तानी नाम का प्रयोग भ्रमात्मक है। और, चूँकि रेडियो ने इस शब्द का अनुचित प्रयोग कर अन्याय किया है, इसलिये रेडियो द्वारा इस नाम का प्रयोग

---

* यदि ऐसी हिंदुस्तानी होती, तो हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा, हिंदुस्तानी बोर्ड आदि ही क्यों संगठित किए जाते।

बंद हो जाना चाहिए, और अपने-अपने स्थान पर 'हिंदी' और 'उर्दू' का प्रयोग होना चाहिए।

(ग) जब देश हिंदुस्तानी बना ले, और उसे स्वीकार कर ले, और जब वह थोड़ी-बहुत प्रचलित हो जाय, तभी रेडियो उसका प्रयोग कर सकता है। तब तक आल इंडिया रेडियो के अधिकारियों को अपने मनमाने ढंग से हिंदुस्तानी गढ़ने का कोई अधिकार नहीं। और, देश की किसी प्रचलित भाषा के स्थान में इस मनमाने ढंग से गढ़ी हुई हिंदुस्तानी का प्रयोग तो सर्वथा अन्याय और अत्याचार है।

(घ) जब हिंदुस्तानी बन जायगी, और देश उसे स्वीकार कर लेगा, तब भी वह केवल अखिल भारतीय प्रोग्रामों में प्रयुक्त होगी, या वहाँ प्रयुक्त होगी, जहाँ एक कामन भाषा की आवश्यकता है। वह हिंदी और उर्दू का स्थान नहीं लेगी, अर्थात् हिंदी-उर्दू-प्रदेश के स्टेशनों में हिंदी और उर्दू का वही स्थान रहेगा, जो अन्य प्रांतीय भाषाओं का अपने-अपने प्रदेश के स्टेशनों में।

(ङ) पेशावर, लाहौर, दिल्ली, लखनऊ, बंबई आदि स्टेशनों से हिंदी जाननेवालों के लिये स्त्रियों और बच्चों के प्रोग्राम, समाचार, नाटक, रूपक, भाषण इत्यादि उचित अनुपात में हिंदी में अलग से अवश्य होने चाहिए।

क्या हम आशा करें कि हिंदुस्तानीवाले इस वक्तव्य की सत्य और न्यायोचित बातें कहने का साहस करेंगे?

यदि नहीं, तो वे विश्वास रक्खें कि हिंदी-संसार को हिंदुस्तानी नाम से ही घृणा हो जायगी, और हिंदी-उर्दू का निकट आना तो दूर रहा, वे एक दूसरे से और दूर हो जायँगी, और सांप्रदायिक कटुता और बढ़ेगी। इसकी जिम्मेदारी हिंदुस्तानीवालों के सिर पर होगी, जो हिंदी-द्रोही शक्तियों को हिंदुस्तानी की आड़ में हिंदी का गला काटने का अवसर दे रहे हैं।

दूसरा भाग

हिंदुस्तानी आंदोलन
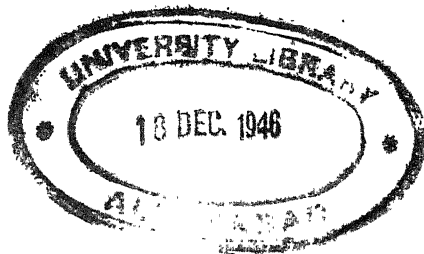
हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी

(लेखक, श्रीअज्ञात)

ाषा के पक्षपाती बहुधा यह कहा करते हैं कि उर्दू की
हिंदू-मुसलमान-सभ्यताओं के सम्मिश्रण का प्रति-
वस्तुतः इस कथन में सत्यता का अंश-मात्र भी नहीं।
उत्पत्ति राजनीतिक कारणों से मुसलमानी राज-
ग्रौर फ़ौज में हुई थी। हिंदी-भाषा की एक बोली
ो में फ़ारसी-अरबी के शब्दों के मेल से यह शैली
के समय में प्रारंभ हुई, और मुसलमान नवाबों,
नव-मुसलमानों तथा दरबारी हिंदुओं ने इसे मुग़ल-
तन के बाद अपनाया, और साहित्यिक रूप दिया।
: अँगरेज़ों के प्रोत्साहन से यह एक स्वतंत्र भाषा
' लगी। हिंदुओं की सभ्यता के प्रकाशन का माध्यम
काल तथा अँगरेज़ी-काल में भी मारवाड़ी, व्रज,
ाथिली तथा खड़ी बोली आदि उप-भाषाओं से
। में ही होता रहा, जो संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश
ी एक उन्नत उत्तराधिकारिणी भाषा है। हिंदी के
साहित्य का संबंध हिंदू और हिंदू (जैन, सिख)-
से एक हज़ार वर्ष से अधिक पुराना है। संस्कृत,
भ्रंश भाषाओं में सुरक्षित भारतीय संस्कृति का

जब से आधुनिक भारतीय भाषाओं में उतरना आरंभ हुआ है, उसके साथ-ही-साथ संस्कृत-प्राकृत की शब्दावली भी आधुनिक भाषाओं में आई है। हिंदी ही क्यों, उत्तरी भारत की संपूर्ण भाषाएँ, यहाँ तक कि उर्दू का मूल रूप खड़ी बोली हिंदी भी, संस्कृत से ही निकली हैं। इसलिये हिंदी का संस्कृत की ओर झुकाव स्वाभाविक है।

यद्यपि उर्दू-भाषा हिंदी की एक उप-बोली के रूप में आरंभ हुई थी, परंतु राजनीतिक परिस्थितियों ने उसे एक स्वतंत्र भाषा का रूप दे दिया, और अब वह मुसलमान और मुसलमानी सभ्यता से संबद्ध होकर एक सांप्रदायिक भाषा मान ली गई है। उसमें समय-समय पर उच्च कोटि के कवि तथा लेखक भी होते रहे हैं। उर्दू को एक सांप्रदायिक भाषा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं। हम तो यह भी चाहते हैं कि हिंदी की उन्नति के साथ उर्दू की भी उन्नति हो। लेकिन उर्दू को हिंदी के साथ समान अधिकार नहीं दिया जा सकता। संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्य प्रांत, दिल्ली, राजपूताना तथा सेंट्रल इंडिया एजेंसी, इन प्रांतों में रहनेवाली ६० प्रतिशत जनता की भाषा हिंदी नागरी है। उर्दू और फ़ारसी-लिपि का संबंध शहरों में रहनेवाले मुसलमानों तथा कचहरियों से संबद्ध हिंदुओं से, वह भी केवल कचहरी के कार्यों से, है। इस कथन की प्रामाणिकता में बड़े-बड़े भारतीय भाषा-विज्ञान-वेत्ता, भारतीय भाषाओं के विस्तार की सरवे (Linguistic Survey of

India) तथा उक्त प्रांतों में हिंदी, उर्दू लेकर परीक्षाओं में बैठनेवाले विद्यार्थियों की संख्या है। इसलिये हिंदी की ओर भारतीय सरकार, हमारी प्रांतीय सरकार तथा जनता का ध्यान अधिक होना चाहिए। भारतीय तथा पाश्चात्त्य किसी भी भाषा-विज्ञान-वेत्ता ने उर्दू-भाषा को किसी प्रांत की मातृ-भाषा नहीं लिखा है। खेद का विषय तो यह है कि हिंदी की ओर से भारतीय सरकार भी उदासीन है, और हिंदी-भाषा-भाषी जनता भी सोई हुई है! इस उपेक्षा का सबसे बड़ा प्रमाण अखिल भारतवर्षीय रेडियो (A. I. R.) में प्रयुक्त होनेवाली भाषा है, जो ६० प्रतिशत उर्दू और १० प्रतिशत हिंदी है।

विदेशियों का दिया हुआ एक और शब्द 'हिंदुस्तानी' हमारी भाषा के लिये चल रहा है। हिंदुस्तानी एकेडेमी में इस भाषा के स्वरूप के ऊपर बहुत वाद-विवाद हो चुका है, जिसमें भाग लेने का सौभाग्य मुझे भी हुआ है। 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग अनिश्चित रूप से कभी तो हिंदी-उर्दू के बीच की सरल भाषा के रूप में होता है, और कभी साहित्यिक हिंदी और साहित्यिक उर्दू, दोनो को पृथक्-पृथक् भाषा रखते हुए, दोनो भाषाओं के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता है। पहले अर्थ की हिंदुस्तानी में केवल खान-पान की बातें तथा बच्चों की कहानियाँ कही और लिखी जा सकती हैं। किसी प्रकार के गंभीर लेख के लिये, चाहे वह लेख किसी भी विषय पर हो, यह सर्वथा अयोग्य है। न इसमें शब्दावली है, और न

कोई साहित्य। दूसरे अर्थ में हिंदुस्तानी का प्रयोग लोगों (जैसे कांग्रेस) को मान्य हुआ है, परंतु जब हिंदी और उर्दू दो स्वतंत्र भाषाएँ मान ली गईं, तो फिर उनको एक नाम से संबोधन करने की क्या आवश्यकता है ? इससे सिवा भ्रम और द्वेष फैलने के कोई लाभ नहीं दिखाई देता। इस भ्रम का प्रतिफल यह है कि हिंदुस्तानी की उन्नति की आड़ में हिंदी पर कुठाराघात हो रहा है। देश में ऐसे कई प्रांत हैं, जहाँ कई-कई भाषाएँ लिखी और पढ़ी जाती हैं, जैसे सी० पी०, बंबई, मदरास-प्रांत आदि। वहाँ की भाषाओं को मिलाकर एक भाषा क्यों नहीं बनाई जा रही है ? क्या वहाँ मुसलमान नहीं रहते ? अथवा वहाँ के प्रांत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के लिये एक नाम क्यों नहीं रक्खा जाता ? बंबई-प्रांत की मराठी और गुजराती का नाम बंबई-भाषा हमने कभी नहीं सुना। वहाँ दोनो भाषाएँ अपने स्वतंत्र रूप से विकसित हो रही हैं। उन प्रांतों के लोग सजग हैं, और हम 'बेख़बर' हैं।

आल इंडिया रेडियो के स्टेशनों से ब्रॉडकास्ट होनेवाली भाषा देश में तो हिंदी पर घात कर रही है, विदेशों में भी यह भ्रम-पूर्ण धारणा जमा रही है कि उत्तरी भारतवर्ष की साहित्यिक भाषा फ़ारसी-अरबी-शब्द-प्रधान है, और भारतीय सभ्यता मुसलमानी सभ्यता से आक्रांत है। मैं न तो उर्दू का विरोधी हूँ, और न मुसलमान-सभ्यता का। मैं तो इस बात का विरोधी हूँ कि झूठ को सच बताया जा रहा है, और सत्य

को दबाकर भ्रम का प्रचार हो रहा है। मुसलमानी राजत्व-काल में ऐसा होता, तो कदाचित् राजशक्ति के शासन के बल पर मान्य हो जाता, परंतु इतिहास साक्षी है कि पठान और मुग़ल बादशाहों ने न कोई हिंदुस्तानी निकाली, न उर्दू को जनता की भाषा बनाया या बताया, न उसे साहित्यिक कार्य के लिये अथवा दरबार में स्थान दिया। उन्होंने फ़ारसी को राजकीय भाषा बनाया, परंतु जनता की भाषा हिंदी ही मानी। यहाँ तक कि दरबार के कवि भी फ़ारसी और हिंदी के ही होते थे। अब आश्चर्य इस बात का है कि हमारी न्यायशीला अँगरेज़ी सरकार की देख-रेख में यह अन्याय कैसे गति पा रहा है! इस रहस्य का उद्घाटन भारतीय सरकार ही कर सकती है। हम लोगों को तो यही स्पष्ट दिखाई देता है कि ९० प्रतिशत हिंदुओं के अधिकारों का रेडियो-विभाग हनन कर रहा है। हम इस नीति का कड़े शब्दों में विरोध करते हैं।

गांधीजी के नाम खुली चिट्ठी

(लेखक, श्रीसूर्यप्रकाश)

पूज्य गांधीजी,

मैंने हिंदुस्तानी-प्रचार-सम्मेलन की सब खबरें ध्यान से पढ़ी हैं। मुझे हिंदुस्तानी-आंदोलन के इस ढंग से बड़ा दुख और क्षोभ हुआ है। लगभग संपूर्ण हिंदी-जगत् की भी यही भावना है।

हिंदुस्तानी से संबंधित आपके दोनो प्रामाणिक भाषण मैंने 'देशदूत' में पढ़ लिए हैं। मुझे खेद है कि आपके विचारों से मेरी तर्क-बुद्धि को किंचित् संतोष नहीं हुआ। आपके विचारों में तर्क नहीं के बराबर है, बस केवल इच्छा की प्रबलता है। आपको अपने इच्छानुसार सब कुछ कहने का अधिकार है, परंतु तर्क की कसौटी पर कसे बिना उसको सार्वजनिक रूप देना राष्ट्र के लिये अहितकर होगा। वर्तमान समय तो इन झगड़ों को उठाने के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है।

देहातियों का भाषा से काम नहीं चलेगा।

आपने जिन देहातियों की भाषा का नारा उठाया है, वे आपके भाषणों की भाषा भी नहीं समझेंगे। अपने निजी काम की बातों को छोड़कर उनके लिये किसी भी दूसरी बात को समझना कठिन है। एक सभ्य राष्ट्र का काम उन

अपढ़ देहातियों की भाषा से नहीं चल सकता, जिन्हें घर से दस-बीस मील चलकर ही भाषा की कठिनाई पड़ने लगती है। वे आज तक जो भाषा बोलते आए हैं, उसे तब तक बोलेंगे, जब तक उनकी वर्तमान दयनीय अवस्था बनी रहेगी। उनको ऊँचा उठाने के लिये उन्नत भाषा और उन्नत साहित्य की आवश्यकता पड़ेगी। आज आप जो हैं, वह न होते, यदि आपने अँगरेज़ी के गौरव-पूर्ण साहित्य का या प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन न किया होता। ये चीज़ें देहातियों की बोली में नहीं दी जा सकतीं। आपको हिंदी-उर्दूवालों से शिकायत है कि वे कठिन संस्कृत, अरबी-फ़ारसी के शब्द प्रयुक्त करते हैं। यदि वे ऐसा न करें, तो क्या करें? गूढ़ विचारों के लिये गूढ़ शब्द चाहिए ही। अँगरेज़ी में बच्चों की कहानियाँ भी हैं, और एमरसन के निबंध भी। अँगरेज़ी में वे पुस्तकें भी हैं, जो तीसरे दर्जे में पढ़ाई जाती हैं, और वे पुस्तकें भी हैं, जो एम्० ए० में पढ़ाई जाती हैं, और बहुतेरों की समझ में नहीं आतीं। हिंदी में भी बच्चों की कहानियाँ हैं, और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध भी। चंद्रकांता-जैसे ऐयारी के उपन्यास भी हैं, तोता-मैना के क़िस्से भी हैं, और श्रीजयशंकर 'प्रसाद' के नाटक और काव्य भी। ज्यों-ज्यों हिंदी-उर्दू उन्नत होंगी, उनमें नए शब्द आवेंगे ही—हिंदी में संस्कृत के और उर्दू में अरबी-फ़ारसी के—और हिंदी-उर्दू का अंतर बढ़ेगा ही। ये शब्द अशिक्षितों को

या न जाननेवालों को कठिन मालूम पड़ेंगे ही। यह कठिनाई ५० शब्द संस्कृत के और ५० शब्द अरबी-फ़ारसी के लेने से थोड़े ही दूर हो जायगी। 'भाषा' की जगह 'ज़बान' और 'शब्द' की जगह 'लफ़्ज़' कहने से देहाती आपके भाषणों को थोड़े ही समझ जायँगे। न 'राजनीति' की जगह 'सियासत' और 'आर्थिक' की जगह 'इक्तिसादी' कहने से उन्हें कुछ आसानी हो जायगी। मुझे तो अपने पुराने प्रचलित शब्दों की जगह या नए शब्द संस्कृत से गढ़ने के बजाय अरबी-फ़ारसी से शब्द लेने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। आप यह करना चाहते हैं, तो करें; लेकिन भाषा की यह दीन इलाही चल न सकेगी।

आप अँगरेज़ी का हटाने की बात तो कह रहे हैं, लेकिन उसकी जगह लेने के लिये उतनी ही उन्नत भाषा चाहिए। यह काम तो आज की कठिन हिंदी और उर्दू के लिये भी कष्ट-साध्य है, बेचारी देहाती हिंदुस्तानी की तो बात ही क्या? आज भी आपको जब देश से कोई गूढ़, चुस्त और बड़ी बात कहनी होती है, तो आप अँगरेज़ी की शरण लेते हैं। अँगरेज़ी का स्थान लेने के लिये हिंदी अपनी माता संस्कृत से शक्ति ले-लेकर बलवती होती जा रही है। लेकिन, मालूम होता है, यह आपको नहीं सुहाता। हिंदी में आज तक कोई ऐसा कठिन संस्कृत-शब्द नहीं आया, जो बँगला, गुजराती और मराठी में भी न हो, लेकिन आपको तो

केवल हिंदी के संस्कृत-शब्दों से ही शिकायत मालूम होती है, आप हिंदी के ही कठिन संस्कृत-शब्दों पर भृकुटि चढ़ाते हैं। आज तक आपको यह कहते तो नहीं सुना गया कि बँगला, मराठी और गुजराती भी अपने-अपने प्रांतों की जनता के लिये, देहातियों के लिये बेकार हैं, और तब तक उनके काम-लायक़ न होंगी, जब तक वे अपने ५० प्रतिशत संस्कृत-शब्दों को निकालकर उनकी जगह अरबी-फ़ारसी-शब्द न भर लें। हिंदी भारतवर्ष की स्वाभाविक राष्ट्र-भाषा है, लेकिन आपका हिंदुस्तानी-आंदोलन उसके यह पद प्राप्त करने में बाधक सिद्ध होगा, आप भली भाँति विचार करके देख लें।

दो भाषाओं की अनिवार्य शिक्षा असंभव

आप हिंदी-उर्दू को मिलाने के लिये दोनो की अनिवार्य शिक्षा पर ज़ोर देते हैं, लेकिन ऐसा होना असंभव है। ऐसा न होने का एक कारण यह भी है कि उन प्रांतों में, जहाँ उर्दू-वालों का बहुमत है, हिंदी को वह स्थान नहीं दिया गया है, जो हिंदी-प्रांतों में उर्दू को प्राप्त है। हैदराबाद में स्कूलों में तथा उस्मानिया-विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम अनिवार्य रूप से उर्दू है, जो वहाँ की जनता के लिये उतनी ही कठिन, दुर्गम और विदेशी है, जितनी अँगरेज़ी। पर आपने फिर भी उस्मानिया-विश्वविद्यालय को आशीर्वाद दिया है, और एक 'देशी भाषा' को माध्यम बनाने पर

अनुकरणीय बतलाया है। पश्तो भी एक देशी भाषा है, लेकिन अगर उसे मदरास-विश्वविद्यालय का माध्यम बना दिया जाय, तब आप क्या कहेंगे? हैदराबाद में हिंदुओं के माँगने पर भी हिंदी को शिक्षा-क्रम में कोई स्थान नहीं दिया गया, जब कि हिंदू-रियासतों में उर्दू पढ़ने-पढ़ाने की पूरी व्यवस्था है। उलटे काश्मीर में मुसलमान हिंदी को कोई स्थान देने के लिये तैयार नहीं हैं। पंजाब में पाँचवें दर्जे तक हिंदी का पता ही नहीं है, सबको अनिवार्य रूप से उर्दू पढ़ना पड़ती है। पाँचवें दर्जे में पहुँचकर अलबत्ता हिंदी-साहित्य के विषय को लेने की स्वतंत्रता है, परंतु विद्यार्थी उर्दू ही लेते हैं, क्योंकि पहले से जानने के कारण उर्दू उनको एक नए विषय हिंदी से अधिक सरल प्रतीत होती है। शिक्षा का माध्यम उर्दू ही रहता है। यह पद्धति हिंदी को कोई स्थान न देने के बराबर है। पंजाब की प्रांतीय भाषा पंजाबी है, उर्दू नहीं। ऐसी अवस्था में यदि वहाँ एक बाहरी भाषा उर्दू चलाई जाती है, तो हिंदुओं को हिंदी पढ़ने, हिंदी को भी शिक्षा का माध्यम बनाने और अदालती अथवा राजकीय भाषा बनाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। सिंध में लीगी सरकार ने मिडिल-परीक्षा के लिये उर्दू अनिवार्य विषय बना दिया है, वहाँ न हिंदी का कोई स्थान है, न उसके ढ़ाने की कोई व्यवस्था। सीमा-प्रांत में प्रांतीय भाषा होते हुए भी उर्दू का बोलबाला है, हिंदी का कोई

स्थान नहीं। यहाँ तक कि जिन निजी स्कूलों में हिंदी पढ़ाई जाती है, उन पर सरकार की ओर से आए दिन प्रहार होते रहते हैं। इन सब प्रांतों में हिंदुओं की माँग को वहाँ का मुसलमान-बहुमत ठुकरा देता है, जब कि हिंदी-प्रांतों में जैसे युक्त प्रांत, बिहार और मध्य भारत में उर्दू को हिंदी के समान अधिकार प्राप्त है। ऐसी अवस्था में हिंदी-उर्दू में मेल कैसे हो सकता है? मेल करने के लिये मेल की भावना चाहिए। आज तक आपने हैदराबाद, पंजाब, सिंध, सीमा-प्रांत में हिंदी को उर्दू के समकक्ष स्थान दिलाने के लिये न कोई प्रयत्न किया और न मुँह ही खोला है। यह बात हिंदीवालों को बहुत खटकती है। और, जब तक इन प्रांतों में हिंदी के प्रति अन्याय दूर नहीं किया जायगा, तब तक हिंदी-उर्दू के मेल के लिये उपयुक्त वातावरण नहीं बन सकेगा। इसके पहले कि आप हिंदी-उर्दू दोनो पढ़ने पर ज़ोर दें, और कांग्रेस-प्रांतों में अपनी नीति चलाएँ, आपको उचित है कि आप हैदराबाद, पंजाब, सिंध, सीमाप्रांत बंबई, बंगाल आदि में हिंदी को वही स्थान दिलाने का प्रयत्न करें, जो उर्दू को हिंदी-प्रांतों में प्राप्त है, अथवा आप दिलाना चाहते हैं। कांग्रेस की राष्ट्रीयता से उर्दूवालों को अनुचित लाभ उठाने देने के माने होंगे हिंदी के साथ सरासर अन्याय। हिंदी-उर्दू में मेल तो हो ही न सकेगा, क्योंकि दो व्यक्तियों में मेल तभी संभव है, जब दोनो में मेल करने की भावना हो।

बच्चों पर व्यर्थ का बोझ

'बुनियादी तालीम' (बेसिक एजूकेशन) में हिंदी-उर्दू दोनो अनिवार्य विषय हैं। यह बच्चों पर व्यर्थ का बोझ तो है ही, इसका सब जगह समान रूप से पालन भी नहीं हो रहा है। युक्त प्रांत तथा अन्य कांग्रेस-प्रांतों में तो इसका पूरा पालन होता है, लेकिन पंजाब इत्यादि में हिंदी बिलकुल उड़ा दी गई है। यदि पंजाब में अधिकांश बालकों के उर्दू लेने के कारण हिंदी को पढ़ाना जरूरी नहीं समझा गया, तो युक्त प्रांत में अधिकांश बालकों के हिंदी के लेने पर भी उर्दू को रखना और अनिवार्य रूप से पढ़ाना अनुचित नहीं है तो क्या है? या तो 'बुनियादी तालीम' या 'नई तालीम' में हर जगह हिंदी-उर्दू के साथ समान व्यवहार हो, या इनमें से जिसकी जहाँ प्रधानता हो, केवल उसी को रक्खा जाय। क्या आप हिंदी के प्रति इस ज्यादती को दूर करेंगे?

दो लिपियों से हिंदी की ही हानि

राष्ट्र-भाषा के लिये हिंदी और उर्दू दोनो लिपियाँ मान्य होने पर अन्य हानियों और मुश्किलों के अतिरिक्त एक जबरदस्त हानि जो हिंदी को पहुँचेगी, उसे पंडित रामनरेश त्रिपाठी के निम्न-लिखित शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है-

"देवनागरी-लिपि पूर्ण है, और उसमें उर्दू में प्रचलित हरएक शब्द शुद्ध लिखा और पढ़ा जा सकता है। पर फ़ारसी-लिपि अपूर्ण है, उसमें संस्कृत के शब्द न शुद्ध लिखे जा

सकते हैं, न पढ़े। अतएव लिपि को एक किए बिना यदि हम दोनो भाषाओं को एक करने के मसले पर सहमत हो जाते हैं, तो भाषा की दृष्टि से हिंदी को बड़ी हानि उठानी पड़ती है। हिंदी के कितने ही शब्द, जो उर्दू में लिखे नहीं जा सकते, हमेशा के लिये हमसे छूट जायँगे—जैसे भाग्य, संदिग्ध, आवश्यक, प्रमाण, साहित्य और विद्वान् के स्थान पर हमें क़िस्मत, मशकूक, ज़रूरी, सबूत, अदब और आलिम लेना पड़ेगा। लेने के हम विरोधी नहीं, क्योंकि नए शब्दों से हमारा शब्द-कोष बढ़ता ही है, घटता नहीं; पर सैकड़ों पीढ़ियों से साथ चले आते हुए अपने घरेलू शब्दों को, केवल इसलिये कि वे एक विदेशी लिपि में लिखे नहीं जा सकते, छोड़ देने के विरोधी ज़रूर हैं। संस्कृत के प्रचलित शब्द छोड़ देने से हम अपने उस साहित्य से भी वंचित हो जायँगे, जिसमें उनका लगातार प्रयोग अभी तक होता आ रहा है। हम कबीर, तुलसी, सूर से ही नहीं, वर्तमान काल के सैकड़ों लेखकों और कवियों से भी हाथ धो बैठेंगे*।" इसका आपके पास क्या जवाब है?

हिंदुस्तानी के पीछे कुछ इने-गिने मुसलमानों को छोड़कर हिंदू और हिंदीवाले ही दीवाने हैं, और उन्हीं को आप घसीटना चाहते हैं। इसकी कोई संभावना नहीं देख पड़ती

---

* इसका अर्थ यह हुआ कि या तो राष्ट्र-लिपि केवल देव-नागरी होगी या राष्ट्र-भाषा को उर्दू हो जाना पड़ेगा।

कि मुसलमान और उर्दू-लेखक ऐसी हिंदुस्तानी को स्वीकार कर लेंगे, जिसमें थोड़े-से भी संस्कृत के शब्द हों। आप यह भी देख लेंगे कि आपकी हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा की परीक्षाओं में हिंदी और उर्दू अनिवार्य होने पर मुसलमान विद्यार्थी तो बहुत ही कम बैठेंगे। जहाँ उर्दूवालों का बहुमत है (जैसे पंजाब), वहाँ कांग्रेस की पहुँच भी नहीं है, और न होगी, जिससे आप उन पर जोर डलवा सकें। ऐसी अवस्था में जब तक यह भली भाँति न मालूम हो जाय कि मुसलमान और उर्दू-लेखक कहाँ तक हमारे साथ हैं, तब तक हिंदी को बिगाड़ना या उसका स्वाभाविक प्रसार रोककर हिंदुस्तानी लादना या हिंदुओं के बच्चों पर उर्दू व्यर्थ का बोझ लादना कहाँ तक उचित है? उससे कहाँ तक आपके उद्देश्य की पूर्ति होती है?

पं० रामनरेश त्रिपाठी और हिंदुस्तानी

पं० रामनरेश त्रिपाठी हिंदी के प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। 'ग्राम-गीत' लिखकर उन्होंने हिंदी की जो सेवा की है, वह भुलाई नहीं जा सकती। इधर कुछ वर्षों से हिंदुस्तानी-प्रचार का जो आंदोलन चल रहा है, उसका उन पर भी प्रभाव पड़ा, और उन्होंने एक 'हिंदुस्तानी-कोष' भी बना डाला, जिसमें उन्होंने अपने एकत्र किए हुए 'हिंदुस्तानी'-शब्दों का समावेश किया। कोष की भूमिका में उन्होंने अपना हिंदुस्तानी एकाडेमी में पठित 'हिंदी और हिंदुस्तानी'-शीर्षक लेख छाप दिया। ऐसा कदाचित् उन सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिये किया गया, जिन्हें लेकर कोष का निर्माण किया गया था। आज जब वर्धा की हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा एक बृहत् हिंदुस्तानी-कोष बनाने में संलग्न है, त्रिपाठीजी के हिंदुस्तानी-विषयक विचारों पर एक दृष्टि डालना अनुचित न होगा।

त्रिपाठीजी का कहना है कि हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी एक ही भाषा है। ऐसा हिंदुस्तानी के अन्य समर्थक भी कहते हैं। यदि ऐसा है, तो फिर यह हिंदुस्तानी का झगड़ा है किस बात को लेकर? हिंदुस्तानी-प्रचार और हिंदुस्तानी कोष की क्या आवश्यकता पड़ गई? हिंदी और उर्दू का प्रचार

हो ही रहा है, हिंदी और उर्दू के कोष हैं ही, फिर क्या हिंदुस्तानी का विवाद केवल हिंदी-उर्दू के स्थान में 'हिंदुस्तानी' नाम को प्रतिष्ठित करने के लिये है ? वास्तव में बात ऐसी है कि यह कहना कि हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी एक ही भाषा है, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ठीक होते हुए भी कोई क्रियात्मक महत्त्व नहीं रखता। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ये तीनो खड़ी बोली कही जायँगी, क्योंकि तीनो में खड़ी बोली की क्रियाएँ, सर्वनाम, विभक्तियाँ इत्यादि प्रयुक्त होती हैं, लेकिन इससे कुछ नहीं होता। जहाँ तक बोली जानेवाली भाषा का संबंध है, खड़ी बोली का कोई निश्चित स्वरूप नहीं। भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही स्थान में अथवा विभिन्न स्थानों में हिंदुस्तानी बोलने में भिन्न-भिन्न शब्द प्रयुक्त करते हैं। कोई अरबी-फ़ारसी का शब्द प्रयुक्त करता है, कोई उसका संस्कृत पर्याय और कोई उसका अँगरेज़ी पर्याय भी। लोग 'बीबी' भी कहते हैं, 'पत्नी' भी और 'वाइफ़' भी। 'पिता' भी कहते हैं, 'वालिद' भी कहते हैं और 'फ़ादर' भी, तीनो हिंदुस्तानी बोलते समय। जिस किसी ने भी खड़ी बोली बोलते समय जिस शब्द का भी प्रयोग कर दिया, यदि उसको खड़ी बोली का शब्द मानने लगें, तो हमें हिंदुस्तानी के कोष में संपूर्ण हिंदी का, उर्दू का और अँगरेज़ी का कोष उठाकर धर देना पड़ेगा। त्रिपाठीजी ने अपने 'हिंदुस्तानी-कोष' में जिन अँगरेज़ी-शब्दों को स्थान दिया

है; वे तो बहुत कम हैं। आज अँगरेज़ी की पुस्तकों और अखबारों में क्रियाओं और विभक्तियों को छोड़कर जितने शब्द आते हैं, उनमें से कदाचित् ही कोई शब्द ऐसा मिले, जो शिक्षितों की हिंदुस्तानी में न चलता हो। यदि इन सबको भी हिंदुस्तानी मान लिया जाय, तो हिंदी-उर्दू का झगड़ा ही मिट जाय। हिंदुस्तानी में न 'दशमलव' रक्खा जाय, न 'आशार्या', केवल 'डेसीमल' रक्खा जाय, न 'राजनीति' रक्खा जाय, न 'स्यासत', बस केवल 'पॉलिटिक्स', क्योंकि इन अँगरेज़ी-शब्दों को हिंदू-मुसलमान समान रूप से बोलते हैं, और सिक्खों, पारसियों और ईसाइयों को भी सहर्ष स्वीकार होंगे। बस बन गई हिंदुस्तानी—खड़ी बोली की क्रियाएँ, विभक्तियाँ और कुछ अन्य शब्द, बाक़ी अँगरेज़ी! क्या त्रिपाठीजी इसके लिये तैयार होंगे?

त्रिपाठीजी शायद कहें कि केवल 'प्रचलित' शब्द लिए जा सकते हैं। लेकिन हिंदी, उर्दू और अँगरेज़ी का ऐसा कौन-सा शब्द है, जो प्रचलित नहीं? कहीं-न-कहीं की हिंदुस्तानी में तो प्रचलित है ही। कौन-सा शब्द निकाला जायगा और कौन-सा रक्खा जायगा? त्रिपाठीजी कहते हैं—"गंभीर विषयों के लिये संस्कृत और अरबी-फ़ारसी और अँगरेज़ी के भी प्रचलित शब्दों को लेना हमारे लिये अनिवार्य होगा।" चीनी, तुर्की, बर्मी, जापानी और रूसी से भी शब्द क्यों न लिए जायँ? पुर्तगाली, फ्रेंच और जर्मन

को ही क्यों छोड़ा जाय ? चूँकि हर बार यह निश्चित करना मुश्किल होगा कि आठ-दस पर्यायों में से कौन-सा लिया जाय, इन सब भाषाओं के समूचे कोष ही क्यों न 'हिंदुस्तानी-कोष' में अलफाबेटिकल ऑर्डर में खपा दिए जायँ ? जिसकी मर्जी में जो आए, वह उस शब्द का इस्तेमाल करे। कम-से-कम त्रिपाठीजी का 'हिंदुस्तानी-कोष' बनाना तो बिलकुल व्यर्थ था। ३० हज़ार खड़ी बोली के देशज शब्द, २० हज़ार संस्कृत के शब्द और उनके २० हज़ार अरबी-फ़ारसी के और २० हज़ार अँगरेज़ी के पर्याय पुस्तकाकार सँजो देते, काम-चलाऊ 'हिंदुस्तानी-कोष' बन ज़ाता। 'हिंदी-शब्द-सागर' में संस्कृत के और अरबी-फ़ारसी के सब 'प्रचलित' शब्द मौजूद हैं ही, बस उसी में लगभग २० हज़ार अँगरेज़ी-शब्द और जोड़ देते, बन जाता 'हिंदुस्तानी-कोष' !

यह तो हो गई बोली जानेवाली ख़ड़ी बोली की बात। लिखी जानेवाली खड़ी बोली का भी वही हाल है। उर्दू और हिंदी का साहित्य तो है ही, डॉ० रामकुमार वर्मा की 'रेशमी टाई'-सरीखी पुस्तकें और लेख भी हैं, जिनमें अँगरेज़ी के शब्द 'निर्विरोध' आते हैं, और जिनके अँगरेज़ी-शब्द यदि एकत्र किए जायँ, तो अँगरेज़ी का एक छोटा-मोटा कोष बन जायगा। यदि आज की लिखित हिंदी और उर्दू कृत्रिम हैं, क्योंकि इस रूप में कहीं बोली नहीं जातीं, तो जिस भाषा का प्रयोग त्रिपाठीजी ने अपने 'हिंदी और

हिंदुस्तानी' लेख में किया है, वह भी कृत्रिम है। वह भी इसी रूप में कहीं नहीं बोली जाती। यदि कोई लिखित भाषा कुछ-कुछ बोली भी जाती है, तो बस 'रेशमी टाई' की भाषा, पर इस असली हिंदुस्तानी को कोई पूछता ही नहीं, हालाँकि इशारा करते ही इसका साहित्य भी बुरी तरह से बढ़ने लगेगा।

खेद है, इस हिंदुस्तानी-आंदोलन से, जिसके पीछे राजनीतिक कारण हैं, बड़े-बड़े साहित्यिक भ्रम में पड़ गए हैं। उन पर गांधीजी, कांग्रेस और हिंदू-मुस्लिम-एकता के झूठे चित्र का ऐसा जादू सवार है कि वे यही भूल गए हैं कि भाषा है क्या चीज़! यह दशा केवल हिंदीवालों की है। उर्दूवाले निश्चिंत हैं। उनके दिल में न कोई दुविधा है, न कोई शंका। मराठी, गुजराती और बँगलावालों को भी मुसलमानों की चिंता नहीं सताती, और न वे 'गंभीर विषयों' के लिये अरबी-फ़ारसी की ओर ताकते हैं। बस हिंदीवाले ही भ्रम में पड़े हुए हैं।

यहाँ पर मैं हिंदी हिंदुस्तानी के विषय में अपने विचार स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। संक्षेप में, हिंदी एक है, और उसकी एक ही परंपरा है, और वह है देशज, प्राकृत और संस्कृत-शब्दों के आधार पर निर्मित भाषा। उसका साहित्यिक अथवा लिखित रूप एक ही हो सकता है। उसमें देशज, प्राकृत और संस्कृत-शब्दों के अलावा केवल वे ही

विदेशी शब्द लिए जा सकते हैं, जिनके पर्याय हमारे पास नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, हिंदी में केवल वे अरबी-फ़ारसी और अँगरेज़ी के शब्द लिए जा सकते हैं, जिनके देशी पर्याय हमारे पास नहीं हैं या नहीं बन सकते। त्रिपाठीजी कहते हैं—"......जैसे भाग्य, संदिग्ध, आवश्यक, प्रमाण, साहित्य और विद्वान् के स्थान पर हमें क़िस्मत, मशकूक, ज़रूरी, अदब और आलिम लेना पड़ेगा। लेने के हम विरोधी नहीं, क्योंकि नए शब्दों से हमारा शब्द-कोष बढ़ता ही है, घटता नहीं......।" मैं इस प्रकार लेने का कट्टर विरोधी हूँ। यदि अभीष्ट ध्वनि अथवा अर्थ अपने शब्द से व्यक्त किया जा सकता है, तो उसके किसी भी विदेशी पर्याय को हम अपनी भाषा में स्थान नहीं दे सकते। हमारे पास न बेकार का काग़ज़ है, न सीखने के लिये फालतू समय और न हमारी भाषा संसार की भाषाओं का अजायब-घर है। हमें 'हिंदी-शब्द-सागर' से भी उन अरबी-फ़ारसी-शब्दों को निकाल देना चाहिए, जिनकी हमें ज़रूरत नहीं। यह ठीक है कि कितने ही अरबी-फ़ारसी के शब्द हमारे रसोई-घर में बैठे हुए हैं। कितने ही अँगरेज़ी-शब्दों का भी वही हाल है। हम उन्हें नहीं निकालते और न वे निकल सकते हैं। वे हमारे हो चुके हैं। उनके पर्याय हमारे पास हैं ही नहीं। हाँ, यदि समय पाकर उनमें से कोई शब्द बदल जाता है, तो हमें अफ़सोस नहीं होगा। कितने ही हमारे

पुराने शब्द बिलकुल ही लुप्त हो गए हैं, और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उनकी जगह विदेशी शब्द आ बैठे हैं। इसी प्रकार यदि ये विदेशी शब्द भिन्न परिस्थितियों में निकल जाते हैं, तो उनके लिये रोना बेकार है। हमें उन्हें निकालने का पूरा अधिकार है, यदि हम उन्हें निकाल सकें। बहरहाल उन्हें हिंदी में स्थान मिलेगा। कोई शब्द केवल प्रचलित होने के कारण हिंदी में नहीं लिया जा सकता। हज़ारों प्रचलित अँगरेज़ी-शब्दों की जगह हम अपने शब्द साहित्य में प्रयुक्त करते हैं (जैसे पॉलिटिक्स, इकोनामिक्स की जगह राजनीति, आर्थिक।) इन प्रचलित अँगरेज़ी-शब्दों को हम हिंदी में स्थान नहीं दे सकते। इसी प्रकार अपने शब्द होते हुए हम प्रचलित अरबी-फ़ारसी-शब्दों को हिंदी में स्थान नहीं दे सकने। 'विद्वान्' होते हुए 'आलिम' हिंदी में नहीं लिया जा सकता। 'दशमलव', 'राजनीति', 'भाषा', 'शब्द' होते हुए 'आशार्या', 'स्यासत', 'ज़बान', 'लफ़्ज़' हिंदी में नहीं लिया जा सकता। यदि इनको लेते हैं, तो 'डेसमिल', 'पॉलिटिक्स', लैंगुएज', 'वर्ड' भी लेना पड़ेगा। यदि एक विदेशी शब्द प्रचलित है, और उसका पुराना देशी पर्याय अप्रचलित है, तो भी हमें विदेशी शब्द के स्थान में अपने पुराने शब्द को प्रयुक्त करने का और पुनर्जीवित करने का पूरा अधिकार है। प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थितियों में हमारा पुराना देशी शब्द

अप्रचलित हुआ; अनुकूल परिस्थितियों में प्रचलित हो जायगा, यदि हम उसे पुनर्जीवित करेंगे। स्वतंत्र तुर्की और ईरान ऐसा कर रहे हैं। आज अँगरेज़ी की दासता के कारण हमारी भाषा के कितने ही शब्द मरते जा रहे हैं, और उनका स्थान अँगरेज़ी-शब्द ग्रहण कर रहे हैं। कुछ शताब्दी पहले मुसलमानों के राज्य में हमारे कितने ही शब्द अप्रचलित हो गए, और उनकी जगह अरबी-फ़ारसी के शब्द आ गए। जिस प्रकार हम अँगरेज़ी के अनावश्यक शब्द निकालते हैं, उसी प्रकार हम अरबी-फ़ारसी के अनावश्यक शब्द निकाल सकते हैं।

भविष्य में भी आवश्यक नए शब्दों के लिये पहले हम अपना घर देखेंगे, तब विदेश। पहले देशी, प्राकृत और संस्कृत-धातुओं से शब्द बनाएँगे; यदि उनसे काम न चला, तो विदेशी भाषाओं का आश्रय लेंगे, और सबसे अधिक प्रचलित विदेशी शब्दों को लेंगे। यह स्पष्ट है कि अधिकतर विदेशी शब्द जो हमें लेने पड़ेंगे, योरपीय भाषाओं के होंगे, मुख्यतः अँगरेज़ी के।

यह हुई 'हिंदी' की बात। सच तो यह है कि आधुनिक हिंदी में भी परिष्कार की आवश्यकता है। हिंदी में से कितने ही अनावश्यक विदेशी शब्द निकालने हैं, उन्हें बढ़ाना नहीं है। यदि हमने उन्हें हिंदुस्तानी के फेर में पड़कर बढ़ाया, तो हिंदी के अपने शब्द सदा के लिये

बिछुड़ जायँगे। यह निश्चित है। परिस्थिति कुछ ऐसी ही है। त्रिपाठीजी 'क़िस्मत, मशकूक, जरूरी, सबूत, अदब और आलिम' भी ले लेंगे तो क्या होगा कि उर्दू-लेखक विशेषकर मुसलमान लेखक तो भूलकर भी कभी 'भाग्य, संदिग्ध, आवश्यक, प्रमाण, साहित्य और विद्वान्' इस्तेमाल नहीं करेंगे (ख़ुदा के फ़ज़ल से वे हिंदी जानते ही नहीं)। इसलिये परिणाम यह होगा कि हिंदुस्तानी और हिंदी में केवल 'क़िस्मत ·········आलिम' रह जायँगे, केवल यही 'कामनभाषा' या 'आमफ़हम' भाषा में रहेंगे। यदि हिंदी का अस्तित्व रखना है, तो हिंदुस्तानी का विरोध, हिंदी का परिष्कार और एक-एक हिंदी-शब्द की रक्षा करना अनिवार्य है*।

---

* यह बार-बार कहाजाता है कि हिंदी का स्वरूप निश्चित हो जाना चाहिए। बात है भी ठीक। भाषा का काम तभी सिद्ध हो सकता है, जब वह जैसी यहाँ लिखी जाती है वैसी ही हज़ार मील की दूरी पर लिखी जाय। हिंदी का प्रदेश बहुत विस्तृत है, और हमारे दुर्भाग्य से इस प्रदेश में हिंदी की एक विकृत शैली उर्दू भी प्रचलित है। जिसमें यथाशक्ति प्रत्येक हिंदी विशेषकर संस्कृत-शब्द का अरबी-फ़ारसी पर्याय प्रचलित है अथवा प्रचलित किया जाता है। इसलिये हम केवल 'प्रचलित' के सहारे नहीं चल सकते। अगर ऐसा करेंगे तो, उर्दू के सभी शब्द प्रचलित मानने पड़ेंगे, और हिंदी नाम की कोई चीज़ नहीं रह जायगी। बहुत कुछ ऐसा हो भी रहा है। बहु-प्रचलित उर्दू-शब्दों की कौन कहे, कुछ हिंदी-लेखक 'भाषण'

हमारी जो स्टैंडर्ड हिंदी है, उसी को राष्ट्र-भाषा बनने का अधिकार है। स्टैंडर्ड हिंदी क्या है, उसका विवेचन ऊपर कर

के स्थान में 'तक़रीर', 'मंत्रिमंडल' के स्थान में 'वज़ारत', 'सभापति' के स्थान में 'सदर' आदि-आदि प्रयुक्त करते हैं। हिंदी के कवियों पर तो कोई अंकुश है ही नहीं, तुक मिलाने के लिये कठिन-से-कठिन उर्दू-शब्द का प्रयोग करना इनके बाएँ हाथ का खेल है। कवित्व-शक्ति अपनी भाषा में भाव प्रकट करने में है, संसार-भर की भाषाओं का जमघट करने में नहीं, यह उन्हें कौन समझावे। एक ही हिंदी-लेखक के एक ही लेख में, प्राय: एक ही वाक्य में, एक ही अर्थों और ध्वनि में, 'आकाश और आसमान', 'अशुद्ध और ग़लत, मानव और इंसान,' 'कृपा और मेहरबानी', 'तट और किनारा', 'नगर और शहर', 'मंत्री और वज़ीर' आदि-आदि का आना तो बहुत ही साधारण बात है। यह स्थिति कभी संतोषजनक नहीं कही जा सकती। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि विदेशी शब्दों का पूर्ण बहिष्कार कर देना चाहिए। हमारे कुछ सिद्धांत होने चाहिए, और भाषा में स्थिरता होनी चाहिए। लेकिन हिंदी में तो मनमानी देखने में आ रही है। जिसके मन में जो शब्द आता है, वह उस शब्द का प्रयोग कर देता है। यह प्रवृत्ति ख़तरनाक है, इस कारण और भी कि हिंदी का क्षेत्र बहुत विशाल है, और विशालतर होता जाता है। साहित्य-संस्थाओं को, विशेषकर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और नागरी-प्रचारिणी सभा को हिंदी का स्वरूप निश्चित करने का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए। एक कोष का निर्माण किया जाय, जिसमें केवल वे बहु-प्रचलित विदेशी शब्द, जो हिंदी में घुल-मिल गए हैं, जो हिंदी की संपत्ति बन गए हैं, जिनको हिंदी में स्थान देना अभीष्ट है, अथवा

चुका हूँ। उर्दू, 'बाबू हिंदुस्तानी' आदि हिंदी की भ्रष्ट शैलियाँ हैं, जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पैदा हुई हैं। हिंदी की

वे विदेशी शब्द, जिनकी हमें आवश्यकता है, रक्खे जायँ। यह स्पष्ट है कि हिंदी-शब्द-सागर से सैकड़ों विदेशी शब्द निकालने पड़ेंगे। इसके बाद चोटी के साहित्यिक भाषा का आदर्श उपस्थित करें, और हिंदी की बढ़ती हुई शाब्दिक उच्छृंखलता का दमन करें। यह ठीक है कि जीवित भाषा को बाँधकर नहीं रक्खा जा सकता, लेकिन हरएक बात की एक सीमा होती है। हिंदी इस सीमा का अतिक्रमण कर रही है। आखिर उर्दू भी तो एक जीवित भाषा है। उसमें तो ऐसी उच्छृंखलता देखने में नहीं आती। हिंदी से कितने ही शब्द उर्दू भी ग्रहण करती है, लेकिन कठिन हिंदी-शब्दों की कौन कहे, कोई उर्दू-लेखक आसमान छोड़कर आकाश या किनारा छोड़कर तट, या वज़ीर छोड़कर मंत्री लिखता हुआ देखने में नहीं आता। यह ठीक है कि बोलचाल की भाषा में आकाश या तट नहीं चलता, लेकिन मंत्री तो चलता है, नित्य, संदेशा, भेंट, रोगी, तनिक, तुरंत, विश्वास, प्रेम-कृपा, धरती आदि, आदि तो चलते हैं। परंतु उर्दू-लेखक भूल से भी ये शब्द प्रयुक्त नहीं करते। वे तो सदा वज़ीर, रोज़, पैग़ाम, मुलाक़ात, मरीज़, ज़रा, फ़ौरन्, यक़ीन या एतबार, मुहब्बत, मेहरबानी, ज़मीन प्रयुक्त करते हैं, और तर्क यह देते हैं कि ये शब्द भी तो बोलचाल में चलते हैं। बात भी बिलकुल ठीक है। उनके अपने सिद्धांत हैं, उनकी भाषा में स्थिरता है, हमारे न निश्चित सिद्धांत हैं, न निश्चित भाषा। आख़िर ऐसा कब तक चलेगा। अगर तट और आकाश बोलचाल की भाषा में कहीं नहीं हैं, तो या तो हम साधारणतया सदैव किनारा और

और भी बीसियों शैलियाँ—बिहारी हिंदी, बंगाली हिंदी, मराठी हिंदी इत्यादि बन सकती हैं, बोली तो जाती ही हैं।

आसमान लिखें (कविता में भले ही आकाश और तट लिख लें), या फिर उर्दू-लेखकों की तरह बोलचाल में आकाश और तट प्रचलित करने की ठान लें और सदैव आकाश और तट लिखें। जो यह सोचते हैं कि आकाश के साथ-साथ आसमान और तट के साथ-साथ किनारा लिखने से आकाश और तट कभी बोलचाल में प्रचलित हो जायँगे, वे ज़बरदस्त भूल करते हैं। जो आकाश और तट के साथ लागू है, वह सैकड़ों उर्दू-शब्दों के साथ लागू है। अगर हमें अपने पुराने शब्द फिर से बोलचाल में प्रचलित करना है, तो हिंदी को एक दृढ़ नीति पर चलना होगा। यदि तनिक ग़ौर से देखा जाय, तो बोलचाल में प्रचलित सैकड़ों उर्दू-शब्दों के ऐसे हिंदी-पर्याय मिल जायँगे, जो बोलचाल में प्रचलित हैं, विशेषकर स्त्रियों और देहातों की भाषा में। उदाहरण के लिये, ज़रा, फ़ौरन्, बारिश, मुलाक़ात, मेहमान, मवेशी, नज़दीक, जिस्म, चिराग़, नाग़ा, सुबह, शाम, ताज्जुब के स्थान में तनिक, तुरंत, बरखा, भेंट, पाहुन, हरहा, समीप, देह या शरीर, दिया, अंझा, सबेरा, संझा या साँझ, अचरज लिखा जा सकता है। अगर हम अपनी भाषा को केवल 'मर्द भाषा' या शहरी भाषा बनाना चाहते हैं, तो बात दूसरी है। लेकिन फिर हमें यह दावा न करना चाहिए कि हिंदी जनता की भाषा है, या युक्तप्रांत की बोलचाल की भाषा है इत्यादि। जब हिंदी ब्रज, अवधी आदि बोलियों से अपना घरेलू नाता जोड़ती है, तो वह इनसे ठेठ शब्दों को ग्रहण करने में ही संकोच कैसे कर सकती है। ये शब्द अरबी-फ़ारसी की अपेक्षा हमारे कहीं अधिक निकट हैं।

उनमें से कुछ में, जैसे उर्दू में, अच्छा साहित्य भी बन सकता है। लेकिन इसके माने यह नहीं हैं कि हम स्टैंडर्ड हिंदी में इन सब शैलियों का समावेश करते चलें, या राष्ट्र-भाषा के लिये दुनिया-भर की हिंदियों का समन्वय करें। लोग भिन्न-भिन्न बोलियाँ बोलने पर भी लिखते एक साहित्यिक भाषा में हैं। आवश्यकता भी इसी बात की है। हमें एक ऐसी साहित्यिक भाषा चाहिए, जो अँगरेज़ी का स्थान ले सके, जिसका अँगरेज़ी की भाँति पेशावर से आसाम तक और काश्मीर से कन्याकुमारी तक एक ही स्वरूप हो, एक ही शब्दावली हो। ऐसी भाषा स्टैंडर्ड या टकसाली हिंदी ही हो सकती है। उर्दू भी यदि साहित्यिक भाषा है, तो हुआ करे। और भी हिंदियाँ साहित्यिक बन सकती या बनाई जा सकती हैं, लेकिन उनको टकसाली हिंदी के समकक्ष स्थान नहीं दिया जा सकता, और न उनका टकसाली हिंदी के साथ समन्वय किया जा सकता है। अधिक-से-अधिक यह हो सकता है कि उन हिंदिओं के साहित्यिक बन जाने पर उनको भी स्थानीय भाषाओं का पद दे दिया जाय, लेकिन राज-काज

ये ठेठ शब्द जीवित हैं, और हमारी भाषा में जान फूँक देंगे। वास्तविक जनता की हिंदी यही होगी। हिंदी में अभी बहुत परिष्कार होना चाहिए। राजनीतिक परिस्थिति ऐसा करने के लिये हमें और भी मजबूर कर रही है। (देखिए, 'हिंदुस्तानी की बला'-शीर्षक लेख)

और राष्ट्र का काम टकसाली हिंदी में ही चलेगा, और उसका जानना सबके लिये अनिवार्य होगा। हिंदी-उर्दू के मेल से हिंदुस्तानी बनाने के असंभाव्य, अनौचित्य और अनावश्यकता पर अन्यत्र विवेचन कर चुका हूँ।

कुछ लोग पूछेंगे कि टकसाली हिंदी है कहाँ, और कौन उसे लिखता है या लिखेगा? यह प्रश्न बिलकुल उचित होगा। 'किंग्स इँगलिश' (King's English) ही कहाँ है और उसे कौन लिखता है? टकसाली हिंदी हमारा आदर्श है, जो सदा हमारी आँखों के सामने होना चाहिए। आदर्श कभी प्राप्त नहीं होता। उसके अभाव में जो हिंदी आज लिखी जाती है, उसी को टकसाली हिंदी का पद दिया जायगा। यदि आधुनिक हिंदी को किसी ओर मोड़ा जा सकता है, तो केवल आदर्श की ओर। यदि समय के प्रभाव में पड़कर आज की हिंदी और परिष्कृत हो जाती है, तो बिलकुल उचित ही होगा और यदि वह और ज़्यादा विदेशी शब्द अपना लेती है, तो वह भी नहीं रोका जा सकता; लेकिन ऐसा करने के लिये हिंदी पर किसी प्रकार का बाह्य प्रभाव नहीं डाला जा सकता और न हिंदी के किसी भी प्राचीन शब्द को जान-बूझकर निकाला जा सकता है, और न किसी भी अनावश्यक विदेशी शब्द को जान-बूझकर लिया जा सकता है। बस 'हिंदुस्तानी' के प्रति हमारा यही दृढ़ मत होना चाहिए। यदि कोई हिंदी-लेखक जान-बूझकर

एक ऐसे विदेशी शब्द का प्रयोग करता है, जिसका काम अपने हिंदी-शब्द से भी चल सकता था, तो इसे साउदे के शब्दों में मातृभाषा के प्रति अक्षम्य अपराध और विश्वासघात कहा जायगा। और, यदि कोई हिंदी-लेखक अनजाने या हिंदी-शब्द न जानने के कारण विदेशी शब्द प्रयुक्त करता है, तो इसे अज्ञान या मातृभाषा का अधूरा ज्ञान कहा जायगा (जैसे कोई अँगरेज़ी में अँगरेज़ी शब्द न जानने के कारण दूसरी भाषा का शब्द प्रयुक्त करे)।

जहाँ तक देहाती शब्दों का संबंध है, त्रिपाठीजी से सब सहमत होंगे। हम जितने भी ज्यादा देशज शब्द प्रयुक्त कर सकते हैं, अवश्य करें, और अपनी भाषा को अपनी परंपरा और आदर्श की रक्षा करते हुए जनता के जितने भी निकट ले जा सकते हैं, अवश्य ले जायँ। लेकिन देहाती शब्द लेते समय सतर्कता से काम लेना होगा, और हिंदी में स्थानिकता का दोष न आने देना होगा। ज्यों-ज्यों देहातों में शिक्षा का प्रचार होगा, त्यों-त्यों देहाती शब्द तो आवेंगे ही, हमें उनकी चिंता करने की विशेष आवश्यकता नहीं है। यह काम धीरे-धीरे होगा, और ऐसा होना भी चाहिए। लेकिन किसी भी समय में केवल देहाती शब्दों से काम न चलेगा, हिंदी की वर्तमान संपूर्ण शब्दावली आवश्यक है। और आगे भी हिंदी को संस्कृत का पूरा सहारा लेना पड़ेगा।

राष्ट्र-भाषा की समस्या का क्या हल है, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। भारतवर्ष की प्रचलित साहित्यिक भाषाओं में से एक को इसी प्रकार राष्ट्र-भाषा का स्थान देना चाहिए, जिस प्रकार सोवियत-रूस में रूसी को दिया गया है, और उसका पठन-पाठन समस्त भारत में दूसरी भाषा के रूप में उसी प्रकार अनिवार्य होना चाहिए, जिस प्रकार आजकल अँगरेज़ी का है। यह भाषा हिंदी ही हो सकती है।

गांधीजी और हिंदुस्तानी

अभी हाल में, वर्धा में, हिंदुस्तानी-प्रचार-सम्मेलन के अवसर पर, हिंदुस्तानी के विषय में, गांधीजी ने दो भाषण दिए हैं । गांधीजी के दोनो प्रामाणिक भाषण श्रीश्रीमन्नारायण अग्रवाल की कृपा से प्राप्त हो चुके हैं। इन भाषणों में गांधीजी ने अपने हिंदुस्तानी-विषयक तर्क दिए हैं। भाषण गांधीजी की 'हिंदुस्तानी' में हैं, और इनकी भाषा से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि गांधीजी का हिंदुस्तानी से कैसी भाषा से मतलब है। हिंदुस्तानी-आंदोलन के पीछे सबसे बड़ी शक्ति गांधीजी की है, इसलिये उनके भाषणों पर पूरा-पूरा विचार करना आवश्यक है।

गांधीजी कहते हैं—"हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा का मक़सद यह है कि ज्यादा-से-ज्यादा लोग हिंदी और उर्दू-शैलियाँ और नागरी और उर्दू-लिपियाँ सीखें।" क्या गांधीजी बता सकते हैं कि सांप्रदायिकता के सिवा ऐसा करने का कोई और कारण है ? केवल हिंदी-शैली और नागरी-लिपि ही ज्यादा-से-ज्यादा लोग क्यों न सीखें ? हिंदी-शैली और नागरी-लिपि में कौन-सी त्रुटि है, जो उर्दू-शैली और उर्दू-लिपि सीखने से पूरी हो जायगी ? राष्ट्र-भाषा और राष्ट-

लिपि तो एक ही हो सकती है, फिर समूचे राष्ट्र को एक राष्ट्र-भाषा के बंधन में बाँधने के लिये दो शैलियाँ और दो लिपियाँ सीखने की क्या आवश्यकता ? किस देश की एक राष्ट्र-भाषा की दो लिपियाँ हैं ? यदि गांधीजी के कहने का मतलब यही है कि हिंदी और उर्दू दोनो राष्ट्र-भाषाएँ हैं, तो ज़रा साफ़-साफ़ कहें, और इस 'हिंदुस्तानी' शब्द का त्याग कर दें।

गांधीजी कृपा करके यह भी बताएँ कि इस निर्धन और निरक्षर देश पर, जहाँ लोगों को अपनी मातृभाषा की शिक्षा भी नहीं मिलती, मातृभाषा के अतिरिक्त दो शैलियों और दो लिपियों का बोझ डालना कहाँ तक उचित और कहाँ तक संभव है ? गांधीजी स्वयं ही तो कहते हैं कि "देहात के लोगों को तो रोटी की पड़ी है।" फिर क्या हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा का उद्देश्य केवल शहरों में दोनो शैलियों और दोनो लिपियों का प्रचार करना है ? शहरों में भी तो लोग हिंदी या उर्दू या बँगला या तामिल इत्यादि के अलावा अँगरेज़ी के बोझ से दबे हुए हैं। क्या बँगला, तामिलवाले बँगला या तामिल और अँगरेज़ी के अलावा हिंदी और उर्दू, अर्थात् चार भाषाएँ और चार लिपियाँ सीखें ?

गांधीजी कहते हैं—"एक दिन था, जब उत्तर में रहने-वाले तो एक ही ज़बान बोलते थे। उन्हीं की औलाद हम हैं।" फिर वह 'एक ज़बान' कहाँ गई ? कम-से-कम साहित्य

में तो उस 'एक ज़बान' का कहीं अस्तित्व होता। यदि गांधीजी के कहने से यह मान भी लें कि हिंदी और उर्दू कल की उपज हैं, तो यह भी मानना पड़ेगा कि बँगला, मैथिली, भोजपुरिया, अवधी, व्रज, राजस्थानी, गुजराती, सिंधी, पंजाबी और पश्तो भी कल की उपज हैं, और इन भाषाओं में जो भेद आज दृष्टिगोचर होता है, वह कल से पहले जिस दिन की बात गांधीजी कहते हैं, तब नहीं था। आगे चलकर गांधीजी कहते हैं—"देहाती ज़बान तो एक ही चीज़ है।" इसका अर्थ यह लगाना पड़ेगा कि उत्तरी भारत के शहरों में यद्यपि वह 'एक ज़बान' नहीं रही, लेकिन देहातों में वह 'एक ज़बान' अब भी बोली जाती है, अर्थात् बंगाल के देहाती की ज़बान और सीमा-प्रांत के देहाती की ज़बान एक ही है! अगर गांधीजी के कहने का मतलब यह है कि प्रत्येक प्रदेश में देहात में एक ही ज़बान बोली जाती है, तो हमारा नम्र निवेदन है कि प्रत्येक प्रदेश में शहर में भी एक ही ज़बान बोली जाती है, लेकिन ऐसा कहने से गांधीजी का प्रयोजन क्या है? मैथिली बोलनेवाला राजस्थानी बोलनेवाले से किस भाषा में बात करे?

गांधीजी कहते हैं—"आज हम यह महसूस कर रहे हैं कि हिंदी और उर्दू एक दूसरे से दूर होती जा रही हैं।" गांधीजी यह बतलाने के लिये क्षमा करें कि आज की हिंदी व्रज-हिंदी और अवधी-हिंदी की अपेक्षा, जो सदियों से चली

आ रही हैं, उर्दू के कहीं अधिक निकट है। तुलसी की हिंदी और ग़ालिब की उर्दू में 'प्रसाद' की हिंदी और इक़बाल की उर्दू की अपेक्षा कम अंतर नहीं है। हिंदी और उर्दू की धाराओं और परंपराओं का अंतर शताब्दियों से चला आता है। आज हिंदी और उर्दू में अंतर नहीं, वरन् द्वेष बढ़ रहा है। इसके राजनीतिक कारण हैं। यह द्वेष हिंदुस्तानी आंदोलन ने, जिसका उद्देश्य हिंदी और उर्दू की धाराओं को ज़बरदस्ती एक कर देना है, और बढ़ा दिया है। "हिंदी और उर्दू के अलग-अलग फ़िरक़े" आज नहीं पैदा हुए हैं। हाँ, हिंदी को हिंदू और उर्दू को मुसलमान बताकर हिंदुस्तानी-वाले दोनो 'फ़िरक़ों' को आपस में लड़ा अवश्य रहे हैं। हिंदुस्तानीवालों का शायद यह विश्वास है कि ऐसा करने से उनकी हिंदुस्तानी की दीन इलाही के लिये रास्ता साफ़ हो जायगा।

गांधीजी कहते हैं—"हिंदी और उर्दू के बड़े-बड़े लफ़्ज़ों को देहाती लोग नहीं समझेंगे।" ठीक है, देहाती लोग हल, खेत, नमक और तेल के अलावा किसी गंभीर विषय को नहीं समझेंगे। महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल के देहाती मराठी, गुजराती और बँगला के भी 'बड़े-बड़े लफ़्ज़ों' को नहीं समझेंगे। उत्तरी भारत के देहाती गांधीजी के 'हिंदुस्तानी' शब्दों को भी नहीं समझेंगे। यदि वे गांधीजी के 'हिंदुस्तानी' शब्द "लिपि, शैली, राष्ट्र-भाषा, कारण, प्रस्ताव, नष्ट, स्वीकार,

विरोध, आरंभ, भाषण, मर्यादाओं" (गांधीजी के भाषणों में प्रयुक्त कुछ शब्द) को समझ सकते हैं, तो वे "ज़बान, लफ़्ज़, औलाद, फ़िरक़े, ख्यालों, मार्फ़त, ख़िलाफ़, ख़िदमत, मुताबिक़, मक़सद" (गांधीजी के भाषणों में प्रयुक्त कुछ अन्य शब्द) के बजाय "भाषा, शब्द, संतान, दल, विचार, द्वारा, विरुद्ध, सेवा, अनुसार, उद्देश्य" भी समझ सकते हैं, और हमारा दावा है कि ज्यादा अच्छी तरह और ज्यादा लोग समझ सकते हैं। समग्र भारत की दृष्टि से यदि देखा जाय, तो "ज़बान, लफ़्ज़, औलाद, फ़िरक़े, ख्यालों, मार्फ़त, ख़िलाफ़, ख़िदमत, मुताबिक़, मक़सद" को समझनेवालों की अपेक्षा "भाषा, शब्द, संतान, दल, विचार, द्वारा, विरुद्ध, सेवा, अनुसार, उद्देश्य" को समझनेवाले कम-से-कम चौगुने निकलेंगे, और कम-से-कम दो तिहाई भारतवासी हिंदू और मुसलमान-ऐसे निकलेंगे, जिनके लिये जहाँ एक ओर "ज़बान, लफ़्ज़ आदि" बिलकुल अपरिचित होंगे, वहाँ दूसरी ओर "भाषा, शब्द इत्यादि" बिलकुल परिचित होंगे। ऐसी वस्तु-स्थिति में राष्ट्र-वादी गांधीजी यह बतलाने की कृपा करें कि अपने पुराने, देशी अधिक प्रचलित शब्दों को छोड़कर उनके स्थान में विदेशी शब्द प्रयुक्त करने से कौन-सी समस्या हल हो गई, अथवा देहातियों के लिये कौन-सी आसानी हो गई ? केवल इतना ही हुआ न कि ५० प्रतिशत 'बड़े-बड़े' हिंदी-शब्दों के स्थान में ५० प्रतिशत 'बड़े-बड़े' उर्दू के शब्द

आ गए। क्या इस हिंदुस्तानी के साथ भी 'कृत्रिम', 'देहातियों के लिये कठिन', 'बड़े-बड़े लफ़्ज़'वाली आदि वे ही बातें लागू नहीं हैं, जो हिंदी और उर्दू के लिये कही जाती हैं? वास्तव में यह 'हिंदुस्तानी' हिंदी की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में भारतवासियों के लिये कठिन हो गई। आख़िर गांधीजी की हिंदुस्तानी और हिंदी में इतना ही अंतर है न कि उनकी हिंदुस्तानी में हिंदी के उन शब्दों को छोड़कर, जो उर्दू में भी हैं, शेष में आधे हिंदी के हैं, आधे उर्दू के। सब हिंदीवाले आँखें खोलकर देख लें कि हिंदुस्तानी से हिंदुस्तानीवालों का प्रयोजन सरलता, ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के लिये बोधगम्यता आदि कुछ नहीं, केवल मुसलमानों को ख़ुश करने के लिये सांप्रदायिकता की वेदी पर हिंदी की बलि देना है; भाषा के क्षेत्र में भी सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धांत घुसेड़ना है। हमारा गांधीजी से करबद्ध निवेदन है कि ऐसा करने से राष्ट्र-भाषा का बनना तो असंभव है ही, क्योंकि भाषा एक मिट्टी का लोंदा नहीं है, जिसे जैसा रूप चाहा, दे दिया (योरप की एस्परैंटो और युक्तप्रांतीय हिंदुस्तानी, एकाडेमी के प्रयत्न हमारे सामने हैं), मुसलमान भी इससे ख़ुश नहीं होंगे। राजनीतिक उदाहरण हमारे सामने है। राजनीतिक एकता की भाँति भाषा की एकता भी ख़रीदी नहीं जा सकती। एकता उस दिन होगी, जिस दिन मुसलमान भारतीय कहलाने में गर्व का अनुभव

करेंगे, और जिस दिन वे भारतीय वस्तुओं से प्रेम करना सीखेंगे। जब वह दिन आएगा, तब जिस प्रकार आधुनिक तुर्की में तुर्की-भाषा में से अरबी-फ़ारसी के और आधुनिक फ़ारस में फ़ारसी में से अरबी के शब्द निकाले जा रहे हैं, उसी प्रकार मुसलमान उर्दू को विदेशी साज-सज्जा से सजाना छोड़ेंगे, और तभी उर्दू वास्तव में हिंदी के निकट आएगी। उस दिन मुसलमान स्वयं यह माँग करेंगे कि हमारी राष्ट्र-भाषा हिंदी हो। जब तक वह दिन नहीं आता, तब तक भाषा को सांप्रदायिकता का अखाड़ा बनाना या हिंदी की बलि देना वृथा ही नहीं, अनुचित और महा अनर्थकारी है। हम गांधीजी को खुली चुनौती देते हैं कि वह देहातों में प्रचलित जनता की भाषा अथवा उस बुनियादी हिंदी का, जो गत शताब्दियों में मध्य देश की भाषा होने के कारण समस्त भारत में फैल गई है, एक भी ऐसा शब्द बताएँ, जो हिंदी में प्रचलित नहीं है, अथवा वह हिंदी का कोई भी बड़ा-से-बड़ा संस्कृत का ऐसा शब्द बताएँ, जो उसके अरबी-फ़ारसी (अर्थात् उर्दू) पर्याय की अपेक्षा भारतवर्ष में कम समझा जाता है, अथवा वह बोलचाल की हिंदुस्तानी का ऐसा कोई शब्द बताएँ, जो न संस्कृत का है, न अरबी-फ़ारसी का, लेकिन हिंदी में नहीं है। यह एक बहुत बड़ी चुनौती है, लेकिन इससे हिंदुस्तानी-प्रचार की पोल खुल जायगी, और यह स्पष्ट हो जायगा कि हिंदी-उर्दू को जबरदस्ती मिलाने की चेष्टा करने का कारण

एक 'आमफ़हम', 'सबकी समझ में आनेवाली', 'ज्यादा-से-ज्यादा लोगों की समझ में आनेवाली भाषा का निर्माण करना नहीं है, जैसा कि हिंदुस्तानीवाले' दम भरते हैं, वरन् मुसलमानों की अनुचित ज़िद है। फ़ारस और तुर्की में अरबी-शब्द निकालकर मृत फ़ारसी और तुर्की-शब्दों को जीवित करना राष्ट्रीयता है, परंतु हिंद में हिंदी के बहु-प्रचलित, स्वदेशी, जीवित शब्दों को निकालकर विदेशी अरबी-फ़ारसी-शब्दों को भरने का विरोध करना अराष्ट्रीयता है! गांधीजी और हिंदुस्तानीवाले जो चाहें, सो कर सकते हैं, उन्हें कोई रोकता नहीं, लेकिन मेहरबानी करके वे यह कहना छोड़ दें कि वे राष्ट्रवादी हैं, और हम हिंदीवाले सांप्रदायिक हैं। बात बिलकुल उलटी है। हम यह नहीं समझते कि किसी दल-विशेष की अनुचित ज़िद के कारण ठीक रास्ते को छोड़ देने से राष्ट्रीयता को लाभ पहुँचेगा, अथवा राष्ट्र-भाषा की समस्या हल हो जायगी। बर्क के शब्दों में राष्ट्र की नींव अवसरवादी सिद्धांतों पर नहीं रक्खी जा सकती। राजनीतिक उदाहरण हमारे सामने है।

गांधीजी कहते हैं, हिंदी और उर्दू शहरों की बीमारियाँ हैं। ब्रिटिश शासन के प्रताप से बँगला, मराठी, गांधीजी की गुजराती आदि बीमारियाँ भी शहरों तक सीमित हैं। देहातों में निरक्षरता का अखंड साम्राज्य है। 'हिंदुस्तानी' भी गांधीजी की और हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा की पैदा की हुई बीमारी है,

जो शहरों में ही पाई जाती है। दुनिया की सभी साहित्यिक भाषाएँ बीमारियाँ हैं, क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो किसी को कोई भी भाषा सिखाने या पढ़ाने की आवश्यकता न होती। क्या गांधीजी की हिंदुस्तानी ऐसी होगी कि किसी देहाती को सिखाना भी नहीं पड़ेगा, और फिर भी सब विषय उसमें लिखे जा सकेंगे ?

गांधीजी कहते हैं—"भले ही हमेशा के लिये दो लिपियाँ रहें, या दोनो को छोड़कर हरएक प्रांत अपनी-अपनी लिपि में राष्ट्र-भाषा लिखने लगे, तो भी कोई हर्ज नहीं, मगर ज़बान तो एक हो जानी चाहिए।" लिपि के प्रश्न पर तर्क की कोई गुंजाइश नहीं। इस प्रश्न पर पहले भी विचार किया जा चुका है। यहाँ हम गांधीजी से केवल यह पूछना चाहेंगे कि राष्ट्र-भाषा के साहित्य का निर्माण किस लिपि में होगा, केंद्रीय सरकार का कार्य किस लिपि में होगा, अखिल भारतीय समाचार-पत्र किस लिपि में छपेंगे, और अंतरप्रांतीय व्यवहार किस लिपि में होगा ? किस देश की राष्ट्र-भाषा की ढेरों लिपियाँ हैं ? क्या इसी बात से यह स्पष्ट नहीं कि राष्ट्र-भाषा की समस्या पर गांधीजी निष्पक्ष होकर वैज्ञानिक और राष्ट्रीय दृष्टि से विचार नहीं कर सके हैं, वरन् वह मुसलमानों के डर से आक्रांत हैं ?

गांधीजी कहते हैं, नागपुर के भारतीय सम्मेलन में उन्होंने अपने भाषण में संस्कृत के शब्द भर दिए थे, और

यदि फिर अवसर पड़े, तो फिर वैसा ही करेंगे, लेकिन हिंदुस्तानी-सम्मेलन में हिंदी-उर्दू की त्रिवेणी बहाएँगे। दूसरे शब्दों में, उन्होंने भाषा को एक खिलौना समझ रक्खा है, जब और जैसा चाहा, वैसा रँग दिया। उनका बस चले, तो वह शायद ऐसा क़ानून बना दें कि अँगरेज़ी जब भारत में बोली जाय, तब उसमें भारतीय शब्द भरे जायँ, जब रूस में बोली जाय, तो रूसी शब्द, जब जर्मनी में बोली जाय, तो जर्मन के शब्द और जब वह किसी अंतरराष्ट्रीय कॉन्फ़्रेंस में बोली जाय, तब दुनिया-भर की भाषाओं के शब्द भर दिए जायँ, तभी अँगरेज़ी एक संसार-भाषा का काम कर सकेगी। भाषा-संबंधी यही भावना उन्हें एक निश्चित, बहु-प्रचलित और परंपरा-युक्त साहित्यिक शैली के होते हुए हिंदी-उर्दू के मेल से भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न भेष धारण करनेवाली हिंदुस्तानी गढ़ने के लिये प्रेरित कर रही है। आश्चर्य है, गांधीजी समझते हैं, कि अँगरेज़ी, जिसे निकालने पर वह ज़ोर देते हैं, एक ऐसी अनिश्चित, अनगढ़, परंपरा-हीन हिंदुस्तानी के निकाले निकल सकेगी, जिसके साहित्य की कौन कहे, स्वरूप की भी रूप-रेखा तैयार नहीं हुई है। गांधीजी के आंदोलन से उलटे अँगरेज़ी का निकालना और कठिन हो जायगा। एक निश्चित, संपन्न साहित्यिक राष्ट्र-भाषा के अभाव में समय की आवश्यकता हमें अँगरेज़ी से चिपटे रहने के लिये बाध्य करेगी। ऐसा विचार डॉ० सुनीतिकुमार

चटर्जी-जैसे अहिंदी-भाषी भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं का भी है। उनका कहना है, शैलियाँ बहुत समय में बनती हैं। हिंदी की आधुनिक शैली १०० वर्ष में जाकर परिमार्जित हुई है, और वह भाव-प्रकाश के लिये एक सुंदर शैली है। यदि इसके स्थान में किसी प्रकार की हिंदुस्तानी को गढ़कर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया, तो अभी कई पीढ़ियों तक अँगरेज़ी का प्रभुत्व इसी प्रकार बना रहेगा। उन्होंने एक और बात कही है, जिससे सब लोग, जिनकी आँखों पर सांप्रदायिकता का पर्दा नहीं पड़ा है, सहमत होंगे। उनका कहना है, यदि दोनो लिपियोंवाला प्रस्ताव स्वीकृत हो गया, तो रोमन-लिपि का आना अनिवार्य है, दूसरे शब्दों में, दोनो लिपियों को राष्ट्र-भाषा के लिये रखने की बात से केवल रोमन-लिपि का जय-जयकार होनेवाला है। निचोड़ यह है कि हिंदुस्तानी-आंदोलन का फल केवल यह होगा कि राष्ट्र-भाषा तो अभी काफ़ी लंबे समय तक अँगरेज़ी बनी रहेगी, और राष्ट्र-लिपि होगी रोमन। क्या गांधीजी ने अपने आंदोलन का ख़तरनाक नतीजा सोचा है? क्या उनके लिये यह उचित नहीं कि यदि वह हिंदी को राष्ट्र-भाषा क़रार देने का साहस नहीं कर सकते, तो कम-से-कम राष्ट्र-भाषा की समस्या के हल में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना ही छोड़ दें, और मौन ग्रहण कर लें। हमें विश्वास है, उनके ऐसा करने से हिंदी अपनी आंतरिक शक्ति से और भी शीघ्र राष्ट्र-भाषा हो

जायगी, और समय की आवश्यकता हिंदी के विरोधियों को हिंदी स्वीकार करने के लिये विवश करेगी।

यहाँ यह न भूलना चाहिए कि प्रत्येक भाषा की अपनी प्रवृत्ति होती है, और जैसे-जैसे ज़रूरत पड़ती है, वैसे-वैसे वह अपना शब्द-भांडार बढ़ाती जाती है। किसी भी भाषा में कृत्रिम उपायों से ज़बरदस्ती शब्द नहीं ठूँसे जा सकते। कोई भी भाषा आज तक इस तरह नहीं बनी। आज यदि अँगरेज़ी एक संसार-भाषा है, तो इस कारण नहीं कि कुछ विद्वानों ने बैठकर उसके लिये शब्द गढ़े, अथवा उसमें और भाषाओं का पुट दिया। जहाँ-जहाँ अँगरेज़ी गई, वहाँ-वहाँ आवश्यकतानुसार उसमें शब्द उसकी प्रकृति के अनुसार आते गए, और अँगरेज़ी के साँचे में ढलते गए। भारत की राष्ट्र-भाषा भी इसी प्रकार बन सकती है कि हम एक निश्चित, साहित्यिक और बहु-प्रचलित भारतीय भाषा को राष्ट्र-भाषा मानकर आगे चलें, ज्यों-ज्यों आवश्यकता पड़ेगी, त्यों-त्यों वह भाषा अपने आप अन्य भारतीय तथा विदेशी भाषाओं से अपनी प्रकृति के अनुसार शब्द ग्रहण कर अपने में खपा लेगी। सोवियट रूस में अनेक भाषाएँ बोली तथा लिखी जाती हैं। रूस में भी मुसलमान हैं। वहाँ रूसी राष्ट्र-भाषा है। वहाँ रूसी को राष्ट्र-भाषा क़रार देते समय किसी ने रूसी में इधर-उधर के शब्द जोड़ने की या अन्य रूसी भाषाओं के बोलनेवालों को ख़ुश करने के लिये उनकी भाषाओं का

रूसी के साथ समन्वय करने की या रूसी मुसलमानों को ख़ुश करने के लिये रूसी में अरबी-फ़ारसी का पुट देने की कल्पना न की, लेकिन यह निश्चित है कि रूसी को जिन शब्दों की आवश्यकता पड़ेगी, वह अन्य रूसी अथवा विदेशी भाषाओं से अपने आप ग्रहण कर लेगी। भारत में राष्ट्र-भाषा का स्थान आधुनिक साहित्यिक हिंदी को ही दिया जा सकता है। इसके कारण हैं।

भारत की सांस्कृतिक एकता को स्थापित हुए हज़ारों साल बीत चुके हैं। ऐसा बिना एक राष्ट्र-भाषा के कदापि संभव न था। संस्कृत भारत की प्रथम राष्ट्र-भाषा थी, और उसने हज़ारों साल तक अखंड राज्य किया ❀। जहाँ तक जनता

❀ कुछ पाश्चात्य विद्वानों की शह पाकर बहुत-से मुसलमान विद्वानों ने यह प्रचार करना आरंभ कर दिया है कि संस्कृत भारत में सर्व-साधारण द्वारा कभी नहीं बोली जाती थी। हिंदुस्तानी के जोश में आकर डॉ० ताराचंद और गांधीजी ने उनकी हाँ में हाँ मिलाना शुरू कर दिया है। इन महानुभावों की राय में वेदों के मंत्र एक कृत्रिम भाषा में बनाए गए थे, जिसको दो-चार आदमी बोलते थे (और शेष जिस भाषा को बोलते थे, उसमें कोई मंत्र नहीं बनाया गया!)। सन् १८८१ में बर्लिन में पूर्वी विषयों के पंडितों के अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन (International Congress of Orientalists) में पठित एक सारगर्भित निबंध में भारत-सरकार के प्रतिनिधि श्रीश्यामजी कृष्ण वर्मा ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि जिस संस्कृत का दिग्दर्शन पाणिनि की अष्टाध्यायी

का संबंध है, वहाँ तक पिछले एक हज़ार वर्षों में तीर्थ-यात्रा, साधु-संन्यासियों, गवैयों आदि के कारण आर्यावर्त के मध्य देश की भाषा हिंदी भारत के दूरतम छोर तक पहुँच गई है, और खड़ी बोली हिंदी भारत की एक काम-चलाऊ राष्ट्र-भाषा बन चुकी है। जनता के अंतरप्रांतीय व्यवहार में आनेवाली हिंदी का नामकरण डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी-जैसे भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं ने 'लघु हिंदी' किया है। यह लघु हिंदी आधुनिक साहित्यिक हिंदी में आधार-स्वरूप निहित है। कुछ लोगों के इसको 'हिंदुस्तानी' कहकर पुकारने से यह हिंदी से भिन्न कोई वस्तु नहीं हो जायगी। जहाँ तक साहित्यिक व्यंजना का संबंध है, वहाँ तक भी हिंदी की संस्कृत-निष्ठ शब्दावली भारत में सबसे अधिक प्रचलित है; क्योंकि यह कम-से-कम भारत के ४/५ भाग में हिंदुओं और मुसलमानों द्वारा एक समान बोली जानेवाली

कराती है, वह पाणिनि के समय में भारत में सर्व-साधारण की बोलचाल की भाषा थी। यदि गांधीजी को इसमें फिर भी आपत्ति है, तो क्या वह यह बतलाने की कृपा करेंगे कि जिस भाषा को पत्थर की लकीर बनाकर अशोक ने पृथ्वी पर गाड़ दिया, वह भी बोली जाती थी या नहीं, अथवा जिस भाषा में कालिदास ने स्त्री-पात्रों के मुख से संभाषण कराए हैं, उसे भी कोई बोलता था या नहीं?

(संस्कृत का वर्तमान महत्त्व क्या है, इसे परिशिष्ट १ में देखिए।)

तथा लिखी जानेवाली भाषाओं में वर्तमान है। अगर इस शब्दावली के किसी शब्द को जबरदस्ती निकालकर उसके स्थान में अरबी-फ़ारसी का शब्द रक्खा जाता है, जैसा हिंदुस्तानीवाले करना चाहते हैं, तो वह शब्द ३/४ भारत के लिये चाहे आसान प्रतीत हो, परंतु ४/५ भारत के लिये अपरिचित और दुरूह होगा, इसलिये ऐसा करना न राष्ट्रीयता है, और न अधिक-से-अधिक बोधगम्यता के अनुसार, वरन् सबसे निकृष्ट प्रकार की सांप्रदायिकता का द्योतक है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अगर किसी प्रकार की साहित्यिक हिंदुस्तानी भारत की अन्य भाषाओं के सबसे निकट है, तो वह हिंदी है, अर्थात् यदि हिंदुस्तानीवालों का अभिप्राय सबसे अधिक बोधगम्य हिंदुस्तानी बनाना है, तो वह हिंदी बनी-बनाई मौजूद है। वास्तव में बात ऐसी है कि आधुनिक हिंदी में अरबी-फ़ारसी के इतने अधिक शब्द आते हैं कि अहिंदी प्रांतों के निवासियों ने शिकायत की है। परंतु गांधीजी ने अपने हिंदुस्तानी-आंदोलन में अहिंदी-भाषियों का कभी ध्यान नहीं रक्खा। गत हिंदुस्तानी-प्रचार-सम्मेलन में भी मुख्यतः केवल हिंदी और उर्दू के विद्वान् बुलाए गए थे। इसकी पूरी आशंका है कि उसमें प्रस्तावित हिंदुस्तानी बोर्ड में भी केवल हिंदी और उर्दू के विद्वान् रक्खे जायँगे *। राष्ट्र-भाषा का प्रश्न केवल हिंदी-प्रांतों से

* गत २७ जून को गांधीजी ने हिंदुस्तानी-बोर्ड के सदस्यों

संबंध नहीं रखता । इसे हल करने में अहिंदी-भाषियों की सुविधा और इच्छा का पूरा ध्यान रखना पड़ेगा । जब

के नाम घोषित कर दिए हैं । वे ये हैं—मौलाना सैयद सुलेमानी नदवी (आज़मगढ़), डॉ० ताराचंद (इलाहाबाद), डॉ० आबिदहुसैन (जामिया मिल्लिया, दिल्ली), पं० बनारसीदास चतुर्वेदी (टीकमगढ़), डॉ० जफ़रहुसैन (हैदराबाद), श्री जैनेंद्रकुमार (दिल्ली), डॉ० अख़्तरहुसैन रायपुरी, पं० सुदर्शन (बंबई), प्रो० नाजिब अशरफ़ नदवी (बंबई), श्रीचंद्रगुप्त विद्यालंकार (लाहौर), श्रीसत्यनारायण (मदरास), पं० हरिभाऊ उपाध्याय (अजमेर), पं० सुंदरलाल (इलाहाबाद) आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल (वर्धा) । सभापति स्वयं गांधीजी हैं । इस सूची से प्रकट है कि यह आशंका सोलह आने ठीक थी हिंदी और उर्दू के विद्वानों को छोड़कर किसी अन्य भारतीय भाषा का कोई विद्वान् नहीं लिया गया है, मानो राष्ट्र-भाषा का संबंध केवल हिंदी और उर्दूवालों से है, और उन्हीं के लिये बनाई जा रही है, अगर इस बोर्ड का केवल यही काम होगा कि हिंदी और उर्दू के लिये एक ही पारिभाषिक, वैज्ञानिक और टेकनिकल शब्दावली तैयार करे, तो भी सभी भारतीय भाषाओं को इस शब्दावली की आवश्यकता है, और सब भारतीय भाषाओं के विद्वान् इस बोर्ड में होने चाहिए थे । यह भी स्पष्ट है कि बोर्ड में सब-के-सब उर्दू के पुराने हिमायती तथा 'हिंदुस्तानी' के कट्टर समर्थक लिए गए हैं । बेचारी हिंदी को पूछनेवाला कोई नहीं। कोष कैसा बनेगा, उसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। कोष-निर्माण-कमेटी के संयोजक हैं डॉ० ताराचंद, और सदस्य मौलाना सुलेमान नदवी, डॉ० आबिदहुसैन और काका कालेलकर

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी-जैसे विद्वान् यह कहते हैं कि हिंदुस्तानी-आंदोलन का बंगाल और बँगला पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, तब हिंदुस्तानीवाले क्यों नहीं कान देते ?

संस्कृत-निष्ठ शब्दावली के विषय में जिस सत्य का ऊपर निर्देश किया गया है, वह एक ईश्वरीय संयोग की बात नहीं है। यह इस बात का प्रत्यक्ष फल है कि संस्कृत हजारों साल तक भारत के शिक्षित-वर्ग की कामन भाषा रही है, और प्रत्येक प्रांतीय भाषा संस्कृत के वातावरण में पली है। इस बात ने विदेशी विद्वानों तक को यह कहने के लिये विवश किया है कि यदि संपूर्ण भारत की कोई राष्ट्र-भाषा हो सकती है, तो वह संस्कृत-निष्ठ भाषा ही हो सकती है❀। हमारा यह सौभाग्य है कि हिंदी इस कसौटी पर खरी उतरती है। हिंदी की संस्कृत-निष्ठ शब्दावली के विषय की यह बात इसके अतिरिक्त है कि कोई भाषा कृत्रिम उपायों से बनाई नहीं जा सकती, अर्थात् यदि हिंदी इस कसौटी पर खरी न उतरती, तो भी उसमें कृत्रिम उपायों से शाब्दिक परिवर्तन करना संभव न होता। यदि ऐसी सब प्रकार से संतोषजनक भाषा हिंदी को छोड़कर हम हिंदुस्तानी की

कर। इनमें से एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं, जो अपनी मातृभाषा हिंदी बतलाता हो!

❀ देखिए परिशिष्ट १

रट लगाएँ, तो इसे पागलपन और घोर सांप्रदायिकता न कहा जाय, तो क्या कहा जाय ?

आज जिन प्रांतों में हिंदी साहित्यिक भाषा है, अर्थात् युक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बिहार और राजस्थान में जो भाषाएँ अथवा बोलियाँ बोली जाती हैं (बंगारू, ब्रज, बुंदेली, कनौजी, अवधी, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरिया, मैथिली, मगाही, राजस्थानी आदि), उनका भी या तो हिंदी से घर का संबंध है, या वे हिंदी के अत्यधिक निकट हैं, अर्थात् उन भाषा-भाषियों के लिये भी हिंदी एक स्वाभाविक साहित्यिक भाषा है। दूसरे शब्दों में, इन प्रांतों की जनता के लिये भी (कम-से-कम ९५ % जनता के लिये तो अवश्य ही) यदि कोई सबसे सरल और बोधगम्य साहित्यिक हिंदुस्तानी हो सकती है, तो वह हिंदी है।

सारांश यह कि चाहे संपूर्ण भारत की दृष्टि से देखा जाय, चाहे उन प्रांतों की दृष्टि से, जहाँ हिंदी साहित्यिक भाषा है, हिंदी ही ऐसी साहित्यिक हिंदुस्तानी है, जो सबसे सरल और सबसे अधिक बोधगम्य है, और यदि हिंदुस्तानीवालों का अभिप्राय पूरे राष्ट्र के लिये अथवा हिंदी-प्रांतों के लिये सबसे अधिक बोधगम्य हिंदुस्तानी बनाना है, तो उन्हें कष्ट करने की कोई ज़रूरत नहीं। वह हिंदी बनी-बनाई मौजूद है।

कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति, जिस पर सांप्रदायिकता अथवा

मुसलमानों के डर का भूत सवार नहीं है, यह कहेगा कि वास्तव में भारत में राष्ट्र-भाषा की समस्या का हल अन्य बहु-भाषी राष्ट्रों की अपेक्षा कहीं अधिक सरल है। वह हल यह है कि आधुनिक हिंदी को राष्ट्र-भाषा का पद देकर उसका प्रचार किया जाय। उसे उर्दू से अथवा अन्य भाषाओं से जो कुछ लेना है, वह अपने आप ग्रहण कर लेगी। इस हल की एक विशेषता यह है कि हम एक कृत्रिम, अनिश्चित, अनगढ़ परंपरा तथा साहित्य-रहित काल्पनिक हिंदुस्तानी से नहीं, वरन् एक निश्चित, साहित्य-युक्त भाषा से आरंभ करते हैं, और यदि हमें अँगरेजी को एक ऐसी अवधि में निकालना है, जिसकी मनुष्य-जीवन से तुलना की जा सकती है, तो हमारे लिये ऐसा करना आवश्यक कही नहीं, अनिवार्य है।

पं० सुंदरलाल और हिंदुस्तानी

पं० सुंदरलाल हिंदुस्तानी के कट्टर समर्थकों में से हैं। उनके विचार हिंदी-संसार को विदित हैं। उनके तर्कों का उत्तर पहले दिया जा चुका है। इधर उन्होंने कुछ भ्रमात्मक बातें कही हैं, जिन पर प्रकाश डालना आवश्यक है ❀।

पंडितजी का कहना है, छपी हुई उर्दू-लिपि सीखना उतना ही आसान है, जितना देवनागरी अथवा कोई अन्य भारतीय लिपि। पंडितजी-जैसे जन्म-सिद्ध विद्वानों के लिये होगा। हम तो यह जानना चाहते हैं कि पंडितजी उर्दू-लिपि में हिंदी के हजारों शब्द किस प्रकार लिखने का इरादा रखते हैं। पंडितजी ने एक जगह कहा है, १९३७ तक वह रोमन-लिपि के कट्टर विरोधी थे, क्योंकि उनका खयाल था कि रोमन-लिपि में सब भारतीय ध्वनियाँ नहीं लिखी जा सकतीं (बाद में रोमन-लिपि में छपे ऋगवेद का भाष्य पढ़कर उनका विचार बदल गया)। तब क्या उर्दू-लिपि में सब भारतीय ध्वनियाँ लिखी जा सकती हैं ? क्या गीता उर्दू-लिपि में भी

❀ देखिए अमृत बाज़ार-पत्रिका (इलाहाबाद), १ जून, १९४१

छापी जा सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं पंडितजी निष्पक्ष होकर दें ❀।

❀ उर्दू-लिपि के विषय में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी लिखते हैं—

"The Perso-Arabic script, in which Urdu is written, is a very imperfect system of writing when used for a non-Arab language. Absence of proper indication of short vowels, paucity of necessary vowel letters, mere dots as the most important part of a number of consonant letters, and frequent ligatures of contracted letters—these are its great drawbacks. Arabic (and Persian) calligraphy in its various styles has no doubt a beauty of its own, but the script cannot be read fluently unless one knows the language well: *bnd* does duty for *band, bend, bond* and *bund* and *sld* for *sold, solid, salad, slid, sullied*, leaving the reader to find out the proper word from the context."

ये सब बातें छपी हुई उर्दू-लिपि के ही विषय में हैं, हाथ से लिखी हुई उर्दू-लिपि के विषय में नहीं। रेडियो का 'हिंदुस्तानी' उच्चारण इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उर्दू-लिपि मान्य होने पर भारतीय शब्दों की क्या दुर्गति होगी। डॉ० चटर्जी उर्दू-लिपि के विषय में आगे लिखते हैं—"It looks like shorthand writing—it is a quick hand, but sometimes very difficult to decipher. The dots and the curtailed forms of the letters are not good for the eye. The alphabet is foreign to India, and the major community in India.

जहाँ तक वैज्ञानिकता का संबंध है, देवनागरी की श्रेष्ठता के विषय में दो मत हो ही नहीं सकते। इसके बाद पंडितजी का कहना कि यह बात बहुत महत्त्व-पूर्ण नहीं है, स्वयं पंडित-जी की दी हुई मिसालों से ग़लत साबित हो जाता है। पंडितजी कहते हैं, उर्दू-लिपि की अवैज्ञानिकता के कारण आज तक कभी रामनाथ के स्थान में रामलाल को फाँसी नहीं हो गई। पता नहीं, ऐसा हुआ कि नहीं, लेकिन उर्दू-लिपि के कारण आए दिन जो अंधेर होता है, और अदालत, पुलिस इत्यादि के कार्य में सर्व-साधारण और सरकारी कर्मचारियों, दोनो को जो सिर-दर्द उठाना पड़ता है, वह कल्पना-लोक के वासी पंडितजी को चाहे न मालूम हो, लेकिन इस पृथ्वी पर रहने-वालों को मालूम है। अभी हाल में श्रीरामनाथ पांडेय ने एक लेख में उर्दू-लिपि की बलिहारियों की चर्चा करते हुए जिस घटना का ज़िक्र किया है, वह पाठकों को शायद भूली न होगी। एक और मिसाल लीजिए। सुनने में आया है कि थोड़े दिन हुए, काशी में एक स्थान के अधिकार के बारे में हिंदू-मुसलमानों में मुक़दमा चला। उस स्थान के संबंध के काग़ज़ उर्दू में थे। उन काग़ज़ों में एक शब्द को हिंदू 'वीर हनूमान' बतलाते थे और मुसलमान 'पीर मुसल-

---

cannot be expected to feel very enthusiastic about it. Outside of Urdu, Sindhi and Kashmiri, Indian Musims do not use it either for their mother-tongues.

मान'। सारा दारोमदार इसी शब्द पर था। अंत में जज ने फ़ैसला हिंदुओं के पक्ष में यह कहकर दिया कि काशी-जैसे नगर में वह स्थान हिंदुओं का ही रहा होगा। इसी प्रकार यदि रामलाल को फाँसी नहीं हुई, तो इसका कारण यह होगा कि पकड़कर तो एक ही अपराधी लाया गया होगा। अगर उसने अपना नाम रामनाथ बताया, तो रामनाथ पढ़ लिया; रामलाल बतलाता, तो रामलाल पढ़ लिया जाता। कम-से-कम पुलिस की डायरी इस नाम की गड़बड़ में तटस्थ रहती। पंडितजी आगे चलकर कहते हैं कि महाजनी की घोर अवैज्ञानिकता के होते हुए भी महाजनों के बहीखातों में गड़बड़ नहीं पड़ती। फिर महाजनी या अन्य किसी 'शार्ट-हैंड' को ही राष्ट्र-लिपि क्यों नहीं मान लिया जाता? खेद है, जहाँ एक और बर्नार्डशॉ-सरीखे विद्वान् यह कहते हैं कि रोमन-लिपि की अपूर्णता और अवैज्ञानिकता के कारण अँगरेज़ी सीखने में बालकों का बहुत-सा अमूल्य समय नष्ट होता है, वहाँ हमारे देश के पंडित सुंदरलाल यह कहते हैं कि देवनागरी-लिपि की, जिसे पश्चिम के विद्वान् भी एक स्वर से संसार की सर्वश्रेष्ठ लिपि बतलाते हैं, वैज्ञानिक श्रेष्ठता का व्यवहार में कोई महत्त्व नहीं! जहाँ पंडित सुंदरलाल को गर्व होना चाहिए था कि संसार की सर्वश्रेष्ठ लिपि इस देश की राष्ट्रीय उपज है, और देश-भर में किसी-न-किसी रूप में व्याप्त है, वहाँ वह उसका महत्त्व घटाते हैं ,और

उसकी छाती पर एक विदेशी लिपि को बैठाने का प्रयत्न करते हैं। उल्टी गंगा यदि भारत में न बहेगी, तो और कहाँ बहेगी !

उर्दू के विषय में जहाँ यह कहा जाता है कि वह समय के प्रभाव से समय की आवश्यकता के अनुसार बन गई, वहाँ यह नहीं बतलाया जाता कि क्या उर्दू-लिपि भी इसी प्रकार 'डेवेलप' हो गई। उर्दू-लिपि की क्या सार्थकता है ? जैसी भी 'हिंदुस्तानी' बोली जाती है, वह देवनागरी-लिपि में क्यों नहीं लिखी जाती ? उर्दूवाले यह तर्क देते हैं कि हिंदी का ही उन्नत रूप उर्दू है, और बोलचाल की हिंदी ही धीरे-धीरे बदलकर उर्दू हो गई है, और वह समान रूप से हिंदुओं और मुसलमानों की भाषा है। क्या उर्दू-लिपि के लिये भी यह बात लागू है ? जैसी भी हिंदी होती गई, वैसी हिंदी-लिपि में क्यों नहीं लिखी गई ? क्या पं० सुंदरलाल इसका उत्तर देंगे ? यदि इसका उत्तर उनके पास नहीं है, तो 'हिंदुस्तानी,' 'हिंदुस्तानी' चिल्लाने से पहले वह मुसलमानों को उर्दू-लिपि छोड़ने के लिये और देवनागरी में उर्दू लिखने के लिये तैयार करें। हम विश्वास दिलाते हैं कि ऐसा होने पर हिंदुस्तानी का प्रश्न अपने आप हल हो जायगा। अभी हाल में पं० राधेश्याम कथावाचक ने कहा था कि यदि मुसलमान उर्दू-लिपि छोड़ दें, तो वह उर्दू को ही हिंदी मनवा देंगे। इससे अधिक पंडित सुंदरलाल क्या चाहते हैं ?

हिंदी-उर्दू के 'फ़्यूज़न' की यही एक शर्त है, इसी के बाद हिंदी-उर्दू का समन्वय होना संभव है। यदि हिंदुस्तानीवाले दिल से 'हिंदुस्तानी' चाहते हैं, तो वे केवल यही एक कार्य करें, बाक़ी सब अपने आप हो जायगा। दोनो लिपियों के रहते भाषा एक कदापि नहीं हो सकती, इसे दोहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं। एक भाषा की दो लिपियाँ नहीं हो सकतीं। राष्ट्र-भाषा की एक ही लिपि होनी चाहिए, और तभी वह एक भाषा रह सकती है, ऐसा डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी-जैसे भाषा-विज्ञान-वेत्ता भी कहते हैं।

एक और भ्रमात्मक बात पंडितजी ने कही है। पंडितजी के अनुसार कुछ अर्थों में देवनागरी 'हिंदू-लिपि' है, और उर्दू-लिपि 'मुस्लिम लिपि' है। क्या सब जगह हिंदू देवनागरी प्रयुक्त करते हैं, और मुसलमान उर्दू-लिपि? क्या रूस और चीन के मुसलमान उर्दू-लिपि में लिखते हैं? मध्य पूर्व के सब मुसलमान देशों में क्या उर्दू-लिपि चलती है? भारत में भी क्या सब मुसलमान उर्दू-लिपि में लिखते हैं? क्या बंगाल के ढाई करोड़ मुसलमान और महाराष्ट्र तथा गुजरात के मुसलमान देवनागरी अथवा देवनागरी के दूसरे रूपों में नहीं लिखते? हिंदी-प्रदेशों में भी क्या एक करोड़ मुसलमान देवनागरी में नहीं लिखते? क्या हज़ारों हिंदू केवल उर्दू-लिपि नहीं जानते? भारत में जो भेद और अंतर देख पड़ते हैं, वे प्रांतों के अनुसार हैं, संप्रदायों के

अनुसार नहीं। देवनागरी और उर्दू-लिपि में एक ही भेद है, और वह यह कि देवनागरी भारतीय और देशी है, उर्दू-लिपि विदेशी। मुसलमानों को देवनागरी अपनाने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए, यदि उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय है। यदि पश्चिमी एशिया के मुस्लिम देश एक नितांत विदेशी रोमन-लिपि अपना सकते हैं, तो भारत के मुसलमान एक भारतीय लिपि अवश्य अपना सकते हैं। पंडितजी उर्दू-लिपि पर ज़ोर देकर समस्या को और जटिल बनाते हैं। यह उनके सांप्रदायिक दृष्टिकोण का परिचायक है। दोनो लिपियों को राष्ट्र-भाषा के लिये मान्य बनाने की बात से यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तानीवालों के अंतस्तल में घोर सांप्रदायिकता भरी हुई है। यदि उनका यह विश्वास है कि 'हिंदू-लिपि' और 'मुस्लिम-लिपि' में कोई समझौता संभव नहीं है, और कोई अपनी लिपि नहीं छोड़ेगा, तो हिंदी और उर्दू में ही 'फ्यूज़न' कैसे संभव है? हिंदी और उर्दू के लिये भी तो वही बात लागू है। यदि अधिकतर शिक्षित हिंदू हिंदी-लिपि में और शिक्षित मुसलमान उर्दू-लिपि में लिखते हैं, और इसलिये दोनो लिपियाँ राष्ट्र-भाषा के लिये मान्य होनी चाहिए, तो ऐसा भी तो है कि अधिकतर शिक्षित हिंदू हिंदी में और अधिकतर शिक्षित मुसलमान उर्दू में लिखते हैं। फिर हिंदी और उर्दू दोनो को ही राष्ट्र-भाषा क्यों नहीं मान लेते? उन

दोनो को मिलाने की क्यों चेष्टा करते हैं ? कौन अपनी भाषा छोड़ेगा ?

वास्तव में बात ऐसी है कि न देवनागरी 'हिंदू-लिपि' है, न उर्दू-लिपि 'मुस्लिम-लिपि' है, और न हिंदी हिंदुओं की और उर्दू मुसलमानों की है। लिपियों में देशी और विदेशी का भेद है, और हिंदी पर 'हिंदू' और उर्दू पर 'मुस्लिम' का लेबिल चिपकाना हिंदुस्तानीवालों का काम है। हिंदुस्तानी-वालों के सांप्रदायिक दृष्टिकोण का सबसे ज्वलंत उदाहरण पं० सुंदरलाल की रेडियो की भाषा पर टिप्पणी है। आप फ़रमाते हैं, रेडियो से हिंदी-उर्दू में अलग-अलग समाचार ब्रॉडकास्ट करने की माँग करना 'टू नेशन थ्योरी' को प्रोत्सा-हन देना है। इससे साफ़ मालूम हो जाता है कि हिंदी-उर्दू के विषय में पं० सुंदरलालजी के दिमाग़ में कितनी भ्रांति समाई हुई है। वह समझते हैं, हिंदी हिंदू है, और उर्दू मुसलमान, और उनकी 'हिंदुस्तानी' भाषा की 'दीन इलाही' होगी ! हद हो गई ! पं० सुंदरलाल यदि हिंदी और उर्दू के इतिहास को भूल जाना चाहते हैं, तो भले ही भूल जायँ, लेकिन वह इस प्रकार की बातों से जनता की आँखों पर परदा नहीं डाल सकते। अगर वह हिंदुस्तानी को भाषा की 'दीन-इलाही' ही समझते हैं, तो वह यह भी समझ लें कि अकबर की दीन इलाही की भाँति 'हिंदुस्तानी' भी एक कल्पना-लोक की वस्तु होकर रह जायगी। भाषा के क्षेत्र में

सांप्रदायिक और राजनीतिक अनुपातों को घुसेड़ना अथवा अरबी-फ़ारसी और संस्कृत के लिये सीटें रिज़र्व करना असंभव है।

पंडितजी अगर हिंदी और उर्दू को सांप्रदायिक भाषाएँ ही मानते हैं, तो भी उन्हें हिंदी और उर्दू में पृथक् ब्रॉडकास्ट होने में क्या आपत्ति है? कितनी ही बातों में हिंदू और मुसलमानों में भेद है, तो क्या वह उन बातों को ही भारत से मिटा देंगे? क्या प्रत्येक भारतीय संस्था में हिंदू और मुसलमानों की विशिष्ट चीज़ों को स्थान नहीं दिया जायगा? पंडितजी कहते हैं, रेडियो के प्रश्न पर हिंदी अलग और उर्दू अलग, इस प्रकार विचार करने में वह असमर्थ हैं, जिस प्रकार वह राजनीति के क्षेत्र में यह नहीं सोचते कि हिंदुओं के क्या अधिकार हैं, और मुसलमानों के क्या अधिकार हैं, बल्कि यह सोचते हैं कि भारतीय होने के नाते उनके क्या अधिकार हैं। हमें यहाँ पंडितजी के राजनीतिक आदर्शवाद पर विचार नहीं करना है, लेकिन उनकी मिसाल से हम धोखे में नहीं आ सकते। हिंदी को हिंदू और उर्दू को मुसलमान मानते हुए भी क्या पंडितजी कह सकते हैं कि हिंदी और उर्दू भारतीय नहीं हैं? यदि वे भारतीय भाषाएँ हैं, तो भारत के रेडियो से उनमें ब्रॉडकास्ट क्यों नहीं होने चाहिए? क्या पंडितजी हिंदी और उर्दू के पृथक् अस्तित्व से इनकार करते हैं? यदि वे पृथक् नहीं हैं, और एक ही चीज़

हैं, तो 'फ़्यूज़न' किनका करना है, और यह 'हिंदुस्तानी', 'हिंदुस्तानी' की हाय-तोबा किसलिये है ? और, यदि वे पृथक् हैं, और दोनो ही भारत में प्रचलित हैं, तो उनमें पृथक् ब्रॉडकास्ट की माँग का विरोध कैसे किया जा सकता है, चाहे वे पंडितजी के अनुसार सांप्रदायिक भाषाएँ ही क्यों न हों ?

पंडितजी कहते हैं, यह तो उनकी समझ में आता है कि रेडियो से अपनी हिंदुस्तानी में शब्दों के एक 'सेट' के बजाय एक दूसरे, अधिक प्रचलित 'सेट' को प्रयुक्त करने के लिये कहा जाय। हम तो यह जानते हैं कि एक सेट हिंदी का है, और दूसरा सेट उर्दू का। कोई तीसरा सेट नहीं है। दोनो में से प्रत्येक सेट को जाननेवाले लाखों हैं, और ऐसे सुननेवालों की संख्या भी, जिन्हें इनमें से केवल एक सेट मालूम है, लाखों है, कम-से-कम उनकी संख्या पंजाबी या पश्तो या मलयालम जाननेवालों से कहीं अधिक है। जब इन लोगों के लिये अलग-अलग पंजाबी, पश्तो और मलयालम में ब्रॉडकास्ट हो सकते हैं, तो केवल हिंदी या केवल उर्दू जाननेवालों के लिये अलग-अलग हिंदी और उर्दू में ब्रॉडकास्ट क्यों नहीं हो सकते ? क्या हिंदी और उर्दू का पृथक्-पृथक् महत्त्व पंजाबी, पश्तो और मलयालम के बराबर भी नहीं है ? यदि कोई ऐसा तीसरा सेट होता, जिसे दोनो जानते होते, तभी पंडितजी कह लेते कि हिंदी, उर्दू में पृथक् ब्रॉडकास्ट न हों, केवल इसी तीसरे सेट का प्रयोग किया जाय, यद्यपि तब भी हिंदी

और उर्दू को पृथक्-पृथक् स्थान देना पड़ता, क्योंकि गांधीजी ने साफ़ शब्दों में कहा है कि हिंदुस्तानी का अभिप्राय हिंदी और उर्दू को मिटाना नहीं है, जिसका अर्थ यह हुआ कि हिंदुस्तानी केवल अंतरप्रांतीय भाषा होगी, अर्थात् रेडियो से जहाँ पूरे राष्ट्र के लिये राष्ट्र-भाषा में ख़बरें होंगी, वहाँ अन्य प्रांतीय भाषाओं की भाँति हिंदी और उर्दू में भी होंगी। लेकिन बात तो ऐसी है कि ऐसा कोई तीसरा सेट नहीं है, पंडितजी और उनके साथी ऐसा सेट अब बनाना चाहते हैं। जब तक ऐसा तीसरा सेट नहीं बन जाता, देश उसको मान नहीं लेता, कम-से-कम हिंदी या उर्दू के समान उसका प्रचार नहीं हो जाता, तब तक हिंदी और उर्दू, दोनो में पृथक् ब्रॉडकास्ट की माँग का विरोध पंडितजी किस तर्क के अनुसार कर सकते हैं, दूसरे शब्दों में, तब तक वह रेडियो को क्या करने की सलाह देते हैं ? आज तक हिंदुस्तानी के नाम से उर्दू का जो प्रचार रेडियो कर रहा है, उसके विरुद्ध पंडितजी ने या डॉ० ताराचंद, गांधीजी प्रभृति हिंदुस्तानी के अन्य समर्थकों ने एक शब्द नहीं कहा। आज जब हिंदी के प्रति इस अन्याय और अनाचार को दूर करने के लिये हिंदी-संसार का आंदोलन प्रबल रूप धारण करने लगा, तब पं० सुंदरलाल राष्ट्रीयता की दुहाई देते हैं, और हिंदी-संसार की न्यायोचित माँग को अराष्ट्रीय बतलाते हैं, और इस प्रकार सर सुलतान अहमद और रेडियो के अधिकारियों को अपनी हिंदी-द्रोही और राष्ट्र-

द्रोही नीति को जारी रखने के लिये बल देते हैं। हिंदी राष्ट्रीयता का प्रतीक है, वह जनता की शक्ति के साथ-साथ आगे बढ़ी है, दुख तो राष्ट्रीयता के इन पुजारियों को इस बात का होना चाहिए था कि भारत के रेडियो की सरकारी भाषाओं में हिंदी का पता ही नहीं है, उन्हें कहना तो यह चाहिए था कि ऐसा कैसे हो सकता है कि हिंद के रेडियो से हिंदी में कोई ब्रॉडकास्ट ही न हो, लेकिन उल्टे वह हमारी पीठ में छुरा भोंकते हैं, और वह भी राष्ट्रीयता की दुहाई देकर! सर सुलतान अहमद ने जिस उद्देश्य से 'हिंदुस्तानी' की दाद दी है, वह पंडित सुंदरलाल भली भाँति पूरा करेंगे, यह स्पष्ट है।

पंडितजी यह तो कहते हैं कि हिंदी और उर्दू में पृथक् ब्रॉडकास्ट होने से 'टू नेशन थ्योरी' को प्रोत्साहन मिलेगा, लेकिन राष्ट्र-भाषा के लिये दोनो लिपियाँ मान्य होने से क्या वैसा नहीं होगा? जब वह अपने मुँह से कहते हैं कि बहुत कुछ अंशों में देवनागरी 'हिंदू-लिपि' है, और उर्दू 'मुस्लिम-लिपि,' तब वह हिंदुओं और मुसलमानों के प्रतीक इन दोनो लिपियों को राष्ट्र-भाषा के लिये क्यों रखना चाहते हैं? लिपि के मामले में वह 'हिंदुओं की लिपि' और 'मुसलमानों की लिपि' इस प्रकार क्यों सोचते हैं, यहाँ पर भी वह भारतीय और अभारतीय इस प्रकार क्यों नहीं सोचते? यदि दोनो लिपियाँ इसलिये रक्खी जाती हैं कि अधिकतर मुसलमान

उर्दू-लिपि में और अधिकतर हिंदू हिंदी-लिपि में लिखते हैं, तो भाषा के लिये भी वैसा ही है, फिर रेडियो से हिंदी और उर्दू दोनो में खबरें क्यों न हों?

अगर हिंदी और उर्दू में अलग-अलग ब्रॉडकास्ट होने के माने यह निकलते हैं कि भारत में दो जातियाँ हैं, तो फिर पंडितजी के मतानुसार भारत में उतनी जातियों अथवा राष्ट्रों की विद्यमानता माननी पड़गी, जितनी भारत में भाषाएँ हैं। कम-से-कम इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि भारत में दो राष्ट्र आज से नहीं, वरन् दो-तीन सौ वर्षों से हैं, अर्थात् जब से उर्दू ने जन्म लिया, उसने साहित्य में स्थान पाया, स्कूलों में हिंदी की अलग और उर्दू की अलग पढ़ाई होने लगी, और हिंदी-उर्दू में अलग-अलग पुस्तकें और समाचार-पत्र प्रकाशित होने लगे। क्यों नहीं पंडितजी पहले इन बातों को बंद करा देते? रेडियो तो केवल देश में प्रचलित भाषाओं में ब्रॉडकास्ट कर सकता है। फिर, क्या पंडितजी को मालूम नहीं कि गवर्नमेंट का इन्फ़र्मेशन और ब्रॉडकास्टिंग-विभाग सूचनाएँ, विज्ञापन आदि हिंदी-उर्दू में अलग-अलग देता है? रेडियो पर ही उनकी कृपा-दृष्टि क्यों है?

पंडितजी के भाषा-ज्ञान के दो-तीन नमूने और देखिए। पंडितजी फ़रमाते हैं—"फ़ोर्ट-विलियम-कॉलेज की स्थापना के समय तक दो खड़ी बोलियाँ नहीं थीं, जो आज हिंदी और

उर्दू बन गई हैं। विभिन्न प्रांतों तथा क्षेत्रों में हिंदू और मुसलमान एक ही भाषा बोलते और उसी में लिखते थे। लेकिन पिछली दो या तीन पीढ़ियों में हम एक दूसरे से अलग हो गए हैं, और हमने दो खड़ी बोलियों को गढ़ लिया है, और एक ओर अरबी-फ़ारसी के शब्दों से और दूसरी ओर संस्कृत के शब्दों से द्वेष करने लगे हैं। वास्तव में टू नेशन थ्योरी की नींव तभी रक्खी गई, जब से भाषा और साहित्य के क्षेत्र में यह पृथक्त्व उत्पन्न हुआ। हम एक थे, लेकिन अलग हो गए। हमें फिर एक हो जाना पड़ेगा।"

यहाँ हिंदी और उर्दू के इतिहास को दोहराने की आवश्यकता नहीं❀ परंतु क्या पंडितजी यह बतलाने का कष्ट करेंगे कि फ़ोर्ट-विलियम-कॉलेज की स्थापना से पहले हिंदू और मुसलमान जिस खड़ी बोली को बोलते और लिखते थे, उसका स्वरूप क्या था, और क्या उसका कोई साहित्य मिलता है? क्या फ़ोर्ट-विलियम-कॉलेज की स्थापना के समय हिंदी और उर्दू एकाएक आसमान से फट पड़ीं? इस समय से पहले का जो उर्दू-पद्य प्रचुर मात्रा में मिलता है, वह कल्पित भाषा में था, या खड़ी बोली-प्रदेश के सब हिंदू और मुसलमान इसी उर्दू को बोलते और लिखते थे? पद्य सदैव गद्य के बाद आता है, वह समय सब भारतीय भाषाओं में पद्य का समय था, और इसीलिये उससे पहले

❀ देखिए परिशिष्ट २

का उर्दू-गद्य (अथवा खड़ी बोली हिंदी का गद्य) प्रचुर मात्रा में नहीं मिलता, परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि पद्य की भाषाएँ गढ़ी हुई थीं, और बोली नहीं जाती थीं। ब्रज और अवधी का ही कितना गद्य मिलता है? वास्तव में बात यह थी कि खड़ी बोली-प्रदेश के शहरों में, विशेषकर दिल्ली में, परिस्थितियों ने उर्दू को कभी का जन्म दे दिया था, और दरबारों से संबंध रखनेवाले कुछ हिंदुओं और मुसलमानों ने बाद को बहुत कुछ साहित्य के लिये भी उसे अपना लिया था, और उसमें बहुत कुछ पद्य-साहित्य भी रच डाला था, परंतु अधिकांश जनता खड़ी बोली के प्राचीन और देशज स्वरूप को बोलती और लिखती थी, जैसा कि आज तक है। फ़ोर्ट-विलियम-कॉलेज की स्थापना के बाद जब गद्य की आवश्यकता पड़ी, तो खड़ी बोली के दोन रूप जो प्रचलित थे, स्वीकृत हुए। न तो उर्दू का जन्म सांप्रदायिकता के कारण हुआ, और न उस समय खड़ी बोली के दोनो रूपों में अकारण भेद करने की आवश्यकता होती, यदि वास्तव में वे दोनो रूप प्रचलित न होते। आख़िर फ़ोर्ट-विलियम-कॉलेज में बँगला अथवा अन्य भारतीय भाषाओं को इस प्रकार विभाजित क्यों नहीं किया गया? कथित बोली के रूप में उर्दू मुग़लों की मातृभाषा और राजभाषा फ़ारसी होने के कारण राजदरबारों के आस-पास और मुग़ल-सेनाओं में इसी प्रकार बनी थी, जिस प्रकार

शिक्षा और राज्य की भाषा अँगरेजी होने के कारण आजकल 'बाबू हिंदुस्तानी' या अँगरेजी-मिश्रित हिंदी बाबू-वर्ग, सरकारी दफ़्तरों और कंपुओं की बोलचाल की भाषा बन गई है। इसे केवल हिंदुओं या केवल मुसलमानों ने नहीं बनाया है। यह स्पष्ट है कि पंडितजी का यह कहना कि फ़ोर्ट विलियम की स्थापना के समय तक दो खड़ी बोली नहीं थीं बिलकुल ग़लत है। खड़ी बोली हिंदी एक हज़ार वर्ष पुरानी भाषा है, और खड़ी बोली-प्रदेश में अधिकांश जनता इसे बोलती है, और उर्दू भी दो-तीन सौ साल पुरानी है। 'बाबू हिंदुस्तानी' में अभी तक साहित्य नहीं लिखा गया, लेकिन उर्दू में मुसलमानों ने लिखा और उसने हिंदी के साथ-साथ पृथक् उन्नति की। इसका एक बड़ा कारण उर्दू-लिपि थी। अगर अँगरेज़ यहाँ बस जाते, तो यह निश्चित है कि वे 'बाबू हिंदुस्तानी' को परिमार्जित कर उसमें साहित्य रच डालते और उसे रोमन-लिपि में लिखते। यदि पंडितजी के इस कथन में ज़रा भी सचाई है कि 'टू नेशन' की नींव भाषा और साहित्य के इस पृथक्करण पर अवलंबित है, तो यह नींव फ़ोर्ट-विलियम-कॉलेज की स्थापना के समय नहीं, वरन् उस समय रक्खी गई, जब खड़ी बोली का उर्दू रूप एक पृथक् लिपि में लिखा गया। परंतु पंडितजी इस लिपि-भेद को अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। यह कहने का साहस शायद पंडितजी को भी न होगा कि फ़ोर्ट-विलियम-

कॉलेज की स्थापना से पहले खड़ी बोली-प्रदेश के सब रहने-वाले—हिंदू और मुसलमान—एक ही लिपि में लिखते थे। यदि देवनागरी और उर्दू-लिपि में लिखते थे, तो पंडितजी ज़रा उससे पहले के उस समय-बिंदु पर दृष्टि क्यों नहीं डालते, जब केवल देवनागरी में लिखते थे, और उस पर उर्दू-लिपि लादी गई। अगर पंडितजी वास्तव में हमें फिर एक करना चाहते हैं, तो हमें उसी समय-बिंदु पर वापस क्यों नहीं ले चलते ❀?

पंडितजी यह तो फ़रमाते हैं कि दो खड़ी बोलियों का होना उतना ही असह्य है, जितना दो बँगलाओं

❀ आजकल की परिस्थिति देखते हुए कहना पड़ता है कि वास्तव में टू नेशन थ्योरी की नींव साहित्य की दुनिया में किसी घटना के अवसर पर नहीं, वरन् उस समय रक्खी गई, जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया, उसमें विजयी हुए, तलवार के ज़ोर से हिंदुओं को मुसलमान बनाया और उन्हें अरब और फ़ारस की सभ्यता और संस्कृति की ओर ताकना सिखाया। बाद में जो कुछ हुआ, उसका मूल-कारण यही था। आज मुसलमानों से फिर हिंदू हो जाने के लिये क्यों नहीं कहा जा रहा है? जिस प्रकार सब अंतरों के बावजूद हिंदू और इस्लाम-धर्मावलंबी हिंदू अर्थात् मुसलमान एक संयुक्त राष्ट्र में एक साथ रह सकते हैं, उसी प्रकार हिंदी और हिंदी का मुस्लिम रूप उर्दू भी साथ-साथ क्यों नहीं रह सकती?

या दो गुजरातियों का होगा, परंतु वह यह भूल जाते हैं कि खड़ी बोली 'हिंदुस्तानी' की दो लिपियों का होना भी उतना ही असह्य होगा, जितना बँगला या गुजराती की दो लिपियों का होना, एक हिंदू बंगालियों या गुजरातियों के लिये और एक मुसलमान बंगालियों या गुजरातियों के लिये। हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जिस प्रकार आज खड़ी बोली के 'बाबू हिंदुस्तानी' रूप को हिंदी, उर्दू के सामने कोई महत्त्व नहीं दिया जाता, उसका हिंदी या उर्दू से 'समन्वय' करने की चेष्टा नहीं की जाती (क्योंकि वह एक अत्यंत अल्प-संख्यक वर्ग—अँगरेजी-शिक्षा-प्राप्त शिक्षित-समुदाय—की भाषा है, जनता की नहीं), उसी प्रकार यदि पंडितजी खड़ी बोली का केवल एक रूप चाहते हैं, तो वह प्राचीन, देशज, वास्तविक खड़ी बोली ही हो सकती है, जिसका साहित्यिक रूप आधुनिक हिंदी है, और उसका उर्दू से किसी प्रकार समन्वय नहीं हो सकता और न देवनागरी के सिवा कोई अन्य लिपि मान्य हो सकती है। पंडितजी मुसलमानों को उर्दू और उर्दू-लिपि छोड़ने के लिये तैयार करें।

अभी हाल में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने कहा है कि हिंदी और उर्दू का अस्तित्व रखते हुए राष्ट्र-भाषा 'हिंदुस्तानी' का निर्माण किया जाय ("While maintaining the integrity of Hindi and Urdu, Hindustani should be evolved as common language.")।

गांधीजी ने भी कहा है कि हिंदुस्तानी से मतलब हिंदी और उर्दू को मिटाना नहीं है। सारांश यह कि हिंदुस्तानी बनने पर दो नहीं, तीन खड़ी बोलियाँ होंगी, हिंदुस्तानीवाले केवल दो खड़ी बोलियों से संतुष्ट नहीं हैं। अभी-अभी बाबू राजेंद्र-प्रसाद ने कहा है, "हिंदुस्तानी से तात्पर्य ऐसी भाषा से है, जिसे सब भारतीय आसानी से लिख और समझ सकें, उससे हिंदी या उर्दू को क्या हानि पहुँच सकती है?" अर्थात् हिंदुस्तानी के बाद भी हिंदी और उर्दू रहेंगी। पहले पंडितजी अपने सहकर्मियों से निबट लें, फिर दो खड़ी बोलियों को असह्य बतलाएँ।

यहाँ दो प्रश्न और उठते हैं। पहला यह कि इस 'हिंदुस्तानी' का साहित्य कहाँ से आवेगा, तीसरे दर्जे से एम्० ए० तक के लिये 'हिंदुस्तानी साहित्य' की कौन-सी पाठ्य पुस्तकें निर्धारित की जायँगी? अभी तक तो इस हिंदुस्तानी में कुछ लिखा नहीं गया है। क्या हिंदुस्तानी साहित्य की रचना अब आरंभ होगी, और हिंदुस्तानी के तुलसी, सूर, 'प्रसाद' और इक़बाल के शीघ्र-से-शीघ्र जन्म लेने के लिये मंदिरों और मसजिदों में मन्नतें मानी जायँगी? दूसरे शब्दों में, क्या भारत की राष्ट्र-भाषा एक साहित्य-हीन भाषा होगी, जिसकी किसी भी अमर कृति या जिसके किसी भी अमर कलाकार का नाम लेने में भारत की ४० करोड़ जनता संसार के सभ्य राष्ट्रों के समक्ष न-जाने कब तक असमर्थ रहेगी?

दूसरा प्रश्न यह है कि जब पंडितजी की बताई हिंदुस्तानी-नमक केवल एक खड़ी बोली हो जायगी, उस समय अब तक के (और भविष्य में भी जो लिखा जाय—हिंदुस्तानी के बाद भी हिंदी और उर्दू में साहित्य-रचना ग़ैर-क़ानूनी थोड़े ही क़रार दे दी जायगी) संपूर्ण हिंदी-साहित्य और संपूर्ण उर्दू-साहित्य का क्या होगा? क्या तुलसी (अवधी और व्रज-साहित्य को पंडितजी भले ही हिंदी-साहित्य से भिन्न वस्तु मान ले, लेंकिन यह मानने में शायद उन्हें भी आपत्ति न होगी कि उनके 'हिंदुस्तानी-प्रदेश' में अवधी और व्रज अब भी जीवित हैं, और अवधी और व्रज-साहित्य राष्ट्र की एक अमूल्य निधि है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस साहित्य के पठन-पाठन के लिये हिंदी-साहित्य को छोड़कर कोई दूसरी जगह भी शायद पंडितजी न बतला सकेंगे) और 'प्रसाद', ग़ालिब और इक़बाल एक मृत भाषा संस्कृत के कवियों के समान पढ़े जायँगे या वे केवल रिसर्च-स्कॉलरों के विषय होंगे? क्या हिंदुस्तानी साहित्य के साथ साथ प्रत्येक विद्यार्थी को इन दोनो साहित्यों को भी अर्थात् तीन साहित्यों को पढ़ना पड़ेगा? क्या उस अवस्था में प्रत्येक विद्यार्थी को हिंदुस्तानी के अलावा हिंदी और उर्दू फिर भी पढ़ना नहीं पड़ेगी, अथवा तब क्या तीन खड़ी बोलियाँ नहीं होंगी? हिंदुस्तानी से कौन-सा मतलब सिद्ध होगा? अगर हिंदुस्तानी के साथ

केवल एक साहित्य—हिंदी-साहित्य या उर्दू-साहित्य—लेने की स्वतंत्रता दी गई, तो फिर हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा का उद्देश्य कैसे पूरा होगा, हिंदी और उर्दू का फ्यूज़न किस प्रकार होगा, या होने के बाद किस प्रकार अक्षुण्ण रहेगा, और तब भी क्या तीन खड़ी बोलियों की विद्यमानता नहीं रहेगी? अगर हिंदुस्तानी केवल शिक्षा का माध्यम या राज-भाषा इत्यादि बनाई गई, और साहित्य के लिये हिंदी और उर्दू चलती रहीं, तो भी तो तीन खड़ी बोलियाँ होंगी। फिर हिंदुस्तानी में साहित्य-रचना भी किस प्रकार रोकी जायगी, और उस साहित्य का क्या स्थान होगा? सैकड़ों वर्ष पुराने दो जीवित साहित्यों को नजरअंदाज़ कर दो जीवित भाषाओं हिंदी और उर्दू को "एक भाषा की दो 'शैलियाँ'" वाले मंत्र द्वारा वशीभूत कर (और लिपि-भेद भुलाकर) भारतीय राजनीतिज्ञों का भाषा के साथ खिलवाड़ और 'हिंदुस्तानी' नाम ले-लेकर पैंतरे बदलना एक अनोखे और अद्भुत दृश्य की सृष्टि कर रहा है!

पंडितजी कहते हैं- विभिन्न प्रांतों में विभिन्न भाषाओं का बोला जाना और अंतरप्रांतीय व्यवहार के लिये एक राष्ट्र-भाषा का होना और बात है, लेकिन एक ही प्रदेश में या यों कहिए, दो पड़ोसियों का दो भाषाओं में बोलना अथवा दो राष्ट्र-भाषाओं का होना और बात है। हम पंडितजी से कहेंगे कि जहाँ-जहाँ हिंदी और उर्दू का आधिपत्य है (या

जहाँ-जहाँ पंडितजी की हिंदुस्तानी का प्रभुत्व होगा), वहाँ सब जगह हिंदी, उर्दू या 'हिंदुस्तानी' लोगों की मातृभाषा नहीं हैं। इस समूचे प्रदेश में थोड़े-से भाग को छोड़कर विभिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनको हिंदू-मुसलमान समान भाव से बोलते और समझते हैं, और जिनसे अपना नित्य का काम चलाते हैं। वहाँ हिंदी और उर्दू दो साहित्यिक भाषाओं के होने से कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। खड़ी बोली-प्रदेश में भी एक क्षेत्र में एक ही प्रकार की खड़ी बोली हिंदू-मुसलमानों द्वारा बोली जाती है। इसके सिवा कोई दूसरी बात का होना असंभव है। दैनिक जीवन की आवश्यकताएँ एक क्षेत्र में दो बोलियों को कभी नहीं रहने दे सकतीं। जब कोई बंगाली, गुजराती, मदरासी या महाराष्ट्री भी हिंदी-प्रदेश में आ बसता है, तो उसकी भी आपस की बोलचाल की भाषा उसी प्रदेश की बोली हो जाती है, वह अपनी साहित्यिक भाषा बँगला, गुजराती, तामिल, मराठी इत्यादि भले ही रक्खे। अँगरेज़, ईसाई भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। खुद पंडितजी के अनुसार हिंदी और उर्दू १५० साल से पृथक्-पृथक् बढ़ रही हैं, परंतु हिंदी-उर्दू-प्रदेश में यह आज तक नहीं सुना गया कि किसी हिंदू ग्राहक को मुसलमान कुँजड़े से तरकारी ख़रीदने में भाषा की दिक्क़त पड़ी हो, या एक हिंदू अपने मुसलमान पड़ोसी को अपनी बात न समझा सका हो, या एक मुसलमान मुवक्किल भाषा की भिन्नता के

कारण हिंदू वकील करने से हिचकिचाया हो। इसलिये पंडितजी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के सिलसिले में हिंदी-उर्दू के भेद की चिंता न करें। साहित्यिक कामों के लिये और राजकार्य के लिये एक प्रदेश में एक ही कामन भाषा होगी, जो उस प्रदेश के निवासियों के लिये प्रथम भाषा या द्वितीय भाषा के रूप में उसी प्रकार अनिवार्य होगी, जिस प्रकार समूचे राष्ट्र के लिये राष्ट्र-भाषा। यह कामन भाषा प्रत्येक प्रदेश की मुख्य साहित्यक भाषा होगी—पंजाब में उर्दू हो सकती है, संयुक्त प्रांत, बिहार और मध्यप्रांत में हिंदी होगी। यह कोई नवीन बात नहीं। हैदराबाद में चार भषाएँ बोली जाती हैं, पर राजभाषा या कामन भाषा एक ही हो सकती है, और वह सबके लिये अनिवार्य होगी। बंबई-प्रांत में मराठी और गुजराती बोली जाती हैं, पर बंबई की राजभाषा दोनो नहीं हो सकतीं, न दोनो का कोई सम्मिश्रण ही संभव है। बिहार में भोजपुरिया, मैथिली, मगाही और हिंदी हैं, मध्य प्रांत में हिंदी और मराठी हैं, पंजाब में पंजाबी, हिंदी और उर्दू हैं, सीमा-प्रांत में पंजाबी और पश्तो हैं, आसाम में असमी और बँगला हैं, मदरास में तामिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम हैं, आदि-आदि। इन सब प्रांतों के भाषा के आधार पर छोटे-छोटे टुकड़े करना संभव नहीं। इन प्रांतों की प्रांत-भाषा अथवा राजभाषा क्या होगी, प्रांतीय असेंबली में भाषण किस भाषा में होंगे,

इत्यादि-इत्यादि ? क्या इन सब बहुभाषी प्रांतों अथवा प्रदेशों में भी केवल एक राजभाषा न होगी, और उसका पठन-पाठन प्रथम अथवा द्वितीय भाषा के रूप में सबके लिये अनिवार्य न होगा ? हिंदी-प्रदेश में भी उर्दू के अलावा अन्य बोलियाँ हैं, जो साहित्यिक बन रही हैं, जैसे भोजपुरी, राज-स्थानी इत्यादि। इनके साहित्यिक बन जाने पर क्या ऐसा न होगा कि एक पड़ोसी की साहित्यिक भाषा भोजपुरी हो, एक की हिंदी या पंडितजी की 'हिंदुस्तानी' ? उस हालत में क्या पंडितजी की 'हिंदुस्तानी' को भी सबकी—भोजपुरी, राज-स्थानीवालों इत्यादि की—केवल कामन भाषा नहीं बन जाना पड़ेगा, अथवा पंडितजी इस समूचे प्रदेश में केवल 'हिंदुस्तानी' को छोड़कर किसी और बोली को साहित्यिक होने ही न देंगे ? फिर पंडितजी ने जो कुछ भाषा की भिन्नता के विषय में कहा है, वह क्या लिपि के विषय में लागू नहीं है ? विभिन्न प्रांतीय भाषाओं की विभिन्न लिपियों का होना और सबके लिये एक राष्ट्र-भाषा की एक राष्ट्र-लिपि का होना और बात है, लेकिन एक ही प्रदेश में अथवा दो पड़ोसियों का दो लिपियों में लिखना अथवा दो राष्ट्र-लिपियों का होना और बात है—अगर इस प्रकार समस्या को रक्खें, तो पंडितजी क्या कहेंगे ?

बहुभाषी प्रांतों और शासन-क्षेत्रों के विषय में सिद्धांत यही हो सकता है कि प्रत्येक प्रदेश में एक ही राजभाषा या

कामन भाषा होगी, जो उस प्रदेश की प्रमुख मातृभाषा या उसके स्थान में बहुमत से स्वीकृत साहित्यिक भाषा होगी, और सबके लिये अनिवार्य विषय होगी। भाषा के आधार पर भारत के प्रांतों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में युक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र, मदरास आदि हैं, जहाँ की मातृभाषाएँ साहित्यिक बन चुकी हैं। इन प्रांतों में प्रत्येक प्रांत की प्रमुख मातृभाषा, राजभाषा और कामन भाषा होगी, और सबके लिये अनिवार्य विषय होगी। आज उड़ीसा के मुसलमान अपनी मातृभाषा उड़िया को छोड़कर उर्दू अपना रहे हैं। महाराष्ट्र के मुसलमान मराठी छोड़कर और गुजरात के मुसलमान गुजराती छोड़कर उर्दू अपना रहे हैं (और साथ ही यह कह रहे हैं कि इन भाषाओं के शिक्षा का माध्यम बन जाने पर मुस्लिम संस्कृति का नाश हो जायगा; अभी हाल में बंबई-उर्दू-कॉन्फ्रेंस के सभापति के पद से डॉ० अब्दुलहक़ ने कहा है कि बंबई-विश्वविद्यालय का माध्यम मराठी हो जाने से मुस्लिम संस्कृति का नाश हो जायगा, और इसलिये बंबई में एक उर्दू-विश्वविद्यालय खुलना चाहिए ! अभी तक अँगरेजी माध्यम होने से कुछ नहीं हुआ था ! डॉ० हक़ यह भी भूल गए कि अगर मराठी बोलनेवाले मुसलमानों की संस्कृति मराठी माध्यम होने से नष्ट हो सकती है, तो क्या हैदराबाद में तेलगू, तामिल और मराठी बोलनेवाले हिंदुओं की संस्कृति

हैदराबाद के स्कूलों में और उसमानिया-विश्वविद्यालय में उर्दू माध्यम होने से नष्ट नहीं हो सकती है, अथवा क्या पंजाब, सीमा-प्रांत और कश्मीर के हिंदुओं की संस्कृति उर्दू माध्यम होने से नष्ट नहीं हो सकती है ?) । लेकिन यह स्पष्ट है कि उड़ीसा, महाराष्ट्र और गुजरात की राजभाषा उड़िया, मराठी और गुजराती के साथ-साथ उर्दू भी नहीं हो सकती, और न इन भाषाओं का उर्दू के साथ फ़्यूज़न किया जा सकता है । अगर इन प्रांतों के मुसलमान अपनी मातृभाष छोड़कर उर्दू की ज़िद करते हैं, तो इस कारण न उर्दू राज-भाषा बनाई जा सकती है, और न इन प्रांतों के हिंदुओं को अपनी मातृभाषा के साथ-साथ उर्दू भी पढ़ने के लिये मजबूर किया जा सकता है । अधिक-से-अधिक यह हो सकता है कि मुसलमानों को उर्दू पढ़ने की सुविधा दे दी जाय, लेकिन उनके लिये प्रांत-भाषा या राजभाषा अनिवार्य विषय होगी । यदि इस कारण उन पर वहाँ के हिंदुओं की अपेक्षा अधिक बोझ पड़ता है, तो इसके लिये वे ही ज़िम्मेदार हैं । इसी प्रकार युक्त-प्रांत और मध्य प्रांत की मातृभाषा हिंदी है, अगर इन प्रांतों के मुसलमान अपनी मातृभाषा छोड़कर उर्दू अपनाते हैं, तो इस कारण युक्तप्रांत या मध्य प्रांत की राजभाषा हिंदी के साथ-साथ उर्दू नहीं बनाई जा सकती, और न हिंदीवालों के लिये उर्दू अनिवार्य विषय

किया जा सकता है, परंतु उर्दू वालों के लिये हिंदी अनिवार्य विषय होगी ❀।

❀ युक्त प्रांत और मध्य प्रांत में मुट्ठी-भर मुसलमानों के अपनी मातृभाषा हिंदी की बजाय उर्दू लेने के कारण वहाँ के हिंदुओं के लिये भी उर्दू अनिवार्य विषय करना और हिंदी के साथ-साथ उर्दू को भी राजभाषा और शिक्षा का माध्यम बनाना—आचार्य नरेंद्रदेव ने कांग्रेसी मंत्रि-मंडल के समय में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में ज़ोर दिया है कि ऐसा ही होना चाहिए—सरासर अन्याय है और शक्ति, समय और अर्थ का घोर अपव्यय है। पंजाब में उर्दू पढ़नेवालों के लिये हिंदी अनिवार्य विषय नहीं है। इस अन्याय की भीषणता इन बातों से और भी स्पष्ट हो जाती है। सुनने में आया है कि गुजरात के स्कूलों में सबके लिये उर्दू अनिवार्य विषय कर दिया गया है। कल गुजरात की राजभाषा और शिक्षा का माध्यम भी गुजराती के साथ-साथ उर्दू बनाई जायगी। यह भी सुनने में आया है कि उड़ीसा में उड़िया और उर्दू देशी भाषाएँ स्वीकृत की गई हैं। वहाँ भी गुजरात का इतिहास दोहराया जायगा। महाराष्ट्र में भी ऐसा हो रहा है। बहुत संभव है, शीघ्र ही बंगाल के मुसलमान बँगला छोड़कर उर्दू अपनाएँ। तब बंगाल की राजभाषा और शिक्षा का माध्यम बँगला के साथ-साथ या अकेली उर्दू बनाई जायगी, और बंगाल के हिंदू-उर्दू पढ़ने के लिये विवश किए जायँगे। इन सब बातों की जड़ में कांग्रेस और हिंदुस्तानीवाले हैं, जो हिंदुस्तानी की धुन में समस्त भारत के हिंदुओं को ज़बरदस्ती उर्दू घोट कर पिलाने पर तुले हुए हैं। मुसलमानों से जोअपनी-अपनी मातृ-

दूसरे वर्ग में बिहार, पंजाब, सीमा-प्रांत और सिंध हैं, जहाँ की मातृभाषाएँ उन्नत साहित्यिक भाषाएँ नहीं हैं, और जो हिंदी या उर्दू को स्वीकार कर चुके या कर रहे हैं। इन प्रांतों में भी राजभाषा एक ही होगी, और वह बहुमत से स्वीकृत भाषा होगी, और सबके लिये अनिवार्य विषय होगी। बिहार में हिंदी होगी, पंजाब, सीमा-प्रांत और सिंध में उर्दू हो सकती है। लेकिन इन प्रांतों के निवासियों को स्पष्ट शब्दों में यह अधिकार देना पड़ेगा कि वे अपनी शिक्षा के लिये अपनी मातृभाषा के स्थान में जिस साहित्यिक भाषा को चाहें, उसे चुन लें। यदि बिहार और राजस्थान के मुसलमानों को उर्दू में शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा दी जाती है, तो पंजाब, सीमा-प्रांत, सिंध और काश्मीर, भूपाल इत्यादि के हिंदुओं को हिंदी में शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा देनी पड़ेगी*।

भाषाएँ छोड़ते जा रहे हैं, कुछ कहने का उनमें साहस नहीं है, हिंदुओं पर ही उनका ज़ोर चलता है।

* परंतु है ऐसा कि बिहार को छोड़िए, हिंदी भाषी युक्त प्रांत और मध्य प्रांत में भी मुसलमानों को उर्दू के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा है, और राजभाषा भी उर्दू है, और हिंदी के साथ उर्दू भी राजभाषा रक्खी जा रही है, परंतु पंजाब, काश्मीर, सीमा-प्रांत और सिंध में हिंदुओं के लिये हिंदी के माध्यम से शिक्षा की सुविधा और राजभाषा हिंदी होना तो अलग रहा, हिंदी-विषय पढ़ने की भी समुचित सुविधा नहीं है। हिंदीभाषी युक्त प्रांत तक में हिंदी

सिद्धांत की बात को अलग रखते हुए, न्याय का तक़ाज़ा यह भी है कि हिंदी और हिंदू-प्रांतों में उर्दू को जो भी स्थान दिया जायगा, वह तभी दिया जायगा, जब मुस्लिम और उर्दू-प्रांतों में हिंदी को वही स्थान दिया जाय। जब तक मुसलमान उर्दू और मुस्लिम प्रांतों तथा रियासतों में, जहाँ की मातृभाषा उर्दू नहीं है, हिंदुओं के माँगने पर भी हिंदी के साथ न्याय करने को तैयार नहीं हैं, तब तक हिंदी और हिंदू-प्रांतों तथा रियासतों में उन्हें अपनी मातृभाषाएँ, जो बिहार और राजस्थान को छोड़कर शेष में साहित्यिक और राजभाषा भी हैं, छोड़कर उर्दू के लिये स्थान माँगने का कोई हक़ नहीं।

पढ़नेवालों के लिये उर्दू अनिवार्य विषय है, परंतु पंजाब में उर्दू पढ़नेवालों के लिये हिंदी अनिवार्य नहीं है। पंजाब में शिक्षा का माध्यम अनिवार्य रूप से उर्दू थी ही, अभी हाल में सिंध की लीगी सरकार ने सबके लिये उर्दू अनिवार्य विषय कर दिया है, और वह भी 'हिंदुस्तानी' का नाम देकर। शीघ्र ही सिंधी बिलकुल निकालकर उर्दू की प्रतिष्ठा की जायगी। काश्मीर का हाल सबको विदित है। परंतु हिंदुस्तानीवालों को इन बातों के विषय में कुछ नहीं कहना है। उल्टे गांधीजी और श्रीराजगोपालाचारी हैदराबाद-सरकार और उसमानिया-विश्वविद्यालय की प्रशंसा करते हैं, जब कि हैदराबाद में उर्दू किसी की मातृभाषा नहीं है, और हैदराबाद की तीनों मातृभाषाएँ मराठी, तामिल, तैलगू साहित्यिक हैं, और इन्हीं में से प्रमुख भाषा को राजभाषा होना चाहिए था।

जहाँ तक दो राष्ट्र-भाषाओं के होने का संबंध है, वह भी असंभव नहीं है। कैनाडा में दो भाषाएँ, अँगरेजी और फ्रेंच, हैं। अँगरेजीवालों के लिये फ्रेंच और फ्रेंचवालों के लिये अँगरेजी अनिवार्य नहीं हैं। जब पंडितजी दो लिपियाँ रखने को तैयार हैं, तब दो राष्ट्र-भाषाओं का होना और भी संभव है। वास्तव में हिंदी और उर्दू, अँगरेजी और फ्रेंच की अपेक्षा एक दूसरे के कहीं अधिक निकट हैं।

पंडितजी ने जो यह कहा है कि एक ओर अरबी-फ़ारसी के शब्दों से और दूसरी ओर संस्कृत के शब्दों से द्वेष पिछली दो-तीन पीढ़ियों में उत्पन्न हुआ है, इसके विषय में हमें यह निवेदन करना है कि हिंदीवालों को अरबी-फ़ारसी के शब्दों से द्वेष नहीं है, उर्दूवालों को संस्कृत-शब्दों से द्वेष भले ही हो। इस बात की साक्षी स्वयं हिंदी और उर्दू—आजकल की हिंदी और उर्दू—हैं। हम इसके विरोधी अवश्य हैं कि अपने प्राचीन प्रचलित शब्दों को छोड़कर उनके स्थान में अरबी-फ़ारसी के शब्दों को प्रयुक्त करें, या अपनी भाषा को स्वदेशी चीजें छोड़कर विदेशों के फूल-पत्तों, चिड़ियों, नदियों, पहाड़ों और विदेशी आदर्शों से सजाएँ*, या अपनी भाषा को अपनी

* पं० अमरनाथझा लिखते हैं—"मेरा काफ़ी समय उर्दू के अध्ययन में बीतता है। उर्दू के प्रमुख जीवित लेखकों में से अधिकांश से मेरा व्यक्तिगत परिचय है, और मैंने उर्दू के कई जीवित कवियों की समालोचना की है। फिर भी मैं असंदिग्ध भाव से इस

प्राचीन स्वदेशी वैज्ञानिक लिपि छोड़कर एक विदेशी लिपि में लिखें। यदि उर्दू वाले ऐसा करते हैं, तो करें। इस संबंध

निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उर्दू का सारा वातावरण और प्रकृति विदेशी है, भारतीय नहीं। इसका प्रमाण यह है कि एक हिंदू भी, जिसका लालन-पालन हिंदू-धर्म, हिंदू-गाथाओं और पौराणिक कथाओं के बीच में हुआ है, जब उर्दू लिखने बैठता है, तो सदैव नौशेरवाँ, हातिम, शीरीं, लैला, मजनूँ, यूसुफ़ का हवाला देता है, युधिष्ठिर, भीम, सावित्री, दमयंती, कृष्ण आदि का, जिनको वह बचपन से जानता है, भूलकर भी नहीं, यदि उसे भाषा में जान-बूझकर प्राचीनता का पुट देना अभीष्ट नहीं है तो।" ("I devote a good deal of time to the study of Urdu; most of the leading Urdu writers of today are personally known to me; I have attempted critical estimates of several living Urdu poets. I have despite this come to the deliberate conclusion that the entire atmosphere and genius of Urdu is foreign and not Indian. The proof of it is that even a Hindu, brought up on Hindu legend and mythology and in the Hindu religion, will when writing Urdu refer invariably to Nausherwan, Hatim, Shirin, Laila, Majnun, Yusuf, and never, except for the sake of archaic flavour, to Yudhisthir, Bhim, Savitri, Damyanti, Krishna, and others familiar to him from infancy") बाबू गुलाबराय

में सांप्रदायिक दृष्टिकोण से विचार करना बेकार है। स्वयं पंडितजी मानते हैं कि हिंदी-उर्दू को पृथक् हुए कम-से-कम १५० वर्ष हुए, और फिर वह कहते हैं कि ४० वर्ष पहले हिंदी-उर्दू का विवाद नहीं था। ११० वर्ष तक हिंदी-उर्दू का विवाद क्यों नहीं हुआ? यदि पंडितजी यह याद रक्खें कि ४० वर्ष पहले हिंदू-मुस्लिम-विवाद भी नहीं था, और न मुसलमान अपने को एक पृथक् राष्ट्र बतलाते थे, तब सब बातें उनकी समझ में आसानी से आ जायँगी। यह सब जानते हैं कि हिंदी-उर्दू का झगड़ा राजनीतिक हिंदू-मुस्लिम झगड़े की

लिखते हैं—"उर्दू खड़ी बोली हिंदी के आधार पर ही खड़ी है, किंतु उसका शृंगार विदेशी है, और वह भी हलका नहीं। उसने फ़ारसी और अरबी संस्कृति को अपनाया है। कुंद, जूही और कमल की अपेक्षा उसमें 'नरगिस,' 'लाला' और 'सोसन' को महत्त्व दिया जाता है। कोयल की कूक के स्थान में बुलबुल की चहक सुनाई पड़ती है। इसलिये उर्दू का प्रश्न एक प्रकार से सांस्कृतिक हो जाता है। उर्दू की ग़ज़लों के अत्यधिक प्रचार से बालकों के भारतीय संस्कार नष्ट हो जाने की आशंका रहती है।"

श्रीसंपूर्णानंद कहते हैं—

"उर्दू के कवि ने कमल और भ्रमर को छोड़कर ईरान के गुलाब और बुलबुल को अपनाया, जिसको न उसने देखा था, न उसके श्रोताओं ने। जिस भारत में मांस खाना कुछ बहुत अच्छी बात नहीं समझी जाती, जो भारत अपने पूर्वजों के पवित्र सोमरस का पान छोड़ चुका था, और सुरापान को निंद्य मानता था, उसके सामने उन्होंने क़बाब, शराब और साक़ी का राग अलापा।"

छाया है, और राजनीति के क्षेत्र में समस्या सुलझते ही हिंदी-उर्दू का झगड़ा भी समाप्त हो जायगा। हिंदी-उर्दू को दोष देना बेकार है। हिंदी-उर्दू की धाराएँ सैकड़ों सालों से प्रवाहित हो रही हैं, और दोनो को हिंदू और मुसलमानों का सहयोग मिला है। 'टू नेशन थ्योरी' के जन्मदाता श्रीजिन्ना भी उर्दू को हिंदुओं और मुसलमानों दोनो की भाषा बतलाते हैं। पंजाब के अधिकांश हिंदू उर्दू बोलते और पढ़ते हैं, फिर वहाँ 'टू नेशन थ्योरी' क्यों पनपी? बंगाल के ढाई करोड़ मुसलमान हिंदुओं के समान बँगला पढ़ते और बोलते हैं, इस बात ने वहाँ 'टू नेशन थ्योरी' को पनपने से क्यों नहीं रोका? हिंदी-उर्दू का संबंध है ही कितने मुसलमानों से? पिछले ४० वर्षों में केवल हिंदी-उर्दू-विवाद का ही जन्म नहीं हुआ है। ४० वर्ष पहले पंडितजी-जैसे नेता भी नहीं थे, भारत की स्वतंत्रता की भूख भी इतनी तेज़ नहीं थी, और कांग्रेस का वर्तमान स्वरूप भी नहीं था, मुस्लिम लीग भी नहीं थी, और स्वतंत्रता का संग्राम भी नहीं छिड़ा था। भाषा के क्षेत्र में ४० वर्ष पहले हिंदी-उर्दू को कोई पूछता ही न था, और न पंडितजी-जैसे नेता अँगरेज़ी को निकालने की बात करते थे। तब अँगरेज़ी से भी द्वेष कहाँ था? अँगरेज़ी को निकालने की बात भी तो अब की जा रही है। उस समय तो अँगरेज़ी की शिक्षा पाना और उसमें लिखने-पढ़ने की योग्यता प्राप्त कर लेना अहोभाग्य समझा जाता था।

पिछली दो-तीन पीढ़ियों में ज्यों-ज्यों राष्ट्रीयता का विकास हुआ, त्यों-त्यों जहाँ एक ओर अँगरेजी का महत्त्व घटा, वहाँ दूसरी ओर विदेशी साज-सज्जा से विभूषित, राज-दरबारों में पालित उर्दू-हिंदी का महत्त्व भी, जिसे विदेशी सरकार ने जनता पर लाद रक्खा था, घटा, और जनता की हिंदी आगे बढ़ी। ब्रिटिश कूट-नीति के कारण मुसलमान राष्ट्रीयता का साथ न दे सके, उल्टे वे अपने आपको अभारतीय घोषित करने लगे, प्रत्येक भारतीय वस्तु से परहेज करने लगे, अन्य मुसलमान राष्ट्रों से नाता जोड़ने का स्वप्न देखने लगे, और हिंदी से, जो जन-शक्ति का प्रतीक है, द्वेष करने लगे। इसके फल-स्वरूप हिंदुओं का भी मुसलमानों से खिंचना स्वाभाविक था, और उन्होंने उर्दू को छोड़ना शुरू कर दिया। जरूरत इस बात की है कि ब्रिटिश सरकार की कूट-नीति को विफल किया जाय, और मुसलमानों को भारतीय चीजों से प्रेम करना सिखाया जाय। भाषा के विषय में जरूरत इस बात की है कि मुसलमान हिंदी से द्वेष करना छोड़ें, हिंदू अपने आप, पहले की भाँति, उर्दू को त्याज्य नहीं समझेंगे। यही एक काम है, जो हिंदुस्तानीवाले कर सकते हैं। यदि यह काम पूरा हो गया, तो मुसलमान स्वयं कहेंगे कि राष्ट्र-भाषा हिंदी ही हो सकती है और हिंदू स्वयं अपने जीवन में उर्दू को भी अन्य प्रांतीय या प्रादेशिक भाषाओं की भाँति स्थान देंगे।

हिंदी-उर्दू को ज़बरदस्ती मिलाने के प्रयत्न से हिंदी-उर्दू-विवाद की कटुता बढ़ी है, घटी नहीं। स्वयं पंडितजी के कथनानुसार १५० वर्षों में समाज ने हिंदी और उर्दू को अपना-अपना वर्तमान रूप दिया है। उन्हें १५० वर्ष पहले ले जाना पंडितजी के बस का काम नहीं। भाषाएँ व्यक्तियों की आज्ञा नहीं मानतीं। केवल एक बात ऐसी है, जिससे हिंदी-उर्दू एक दूसरे के निकट आ सकती और संभवतः भविष्य में मिल भी सकती हैं, और वह है एक लिपि का होना, परंतु हिंदुस्तानीवाले इसी बात को करने के लिये तैयार नहीं हैं। मुसलमान उर्दू-लिपि छोड़ दें, इसकी कोई आशा भी नहीं, इसलिये अच्छा होगा, यदि पंडितजी-जैसे राज-नीतिज्ञ भाषा के विषय में हस्तक्षेप करना ही छोड़ दें। पंडितजी का यह डर दिखलाना कि यदि हिंदी-उर्दू को मिलाकर हिंदुस्तानी न बनाई गई, तो दो बँगला, दो गुज-राँतियाँ, दो मराठियाँ इत्यादि हो जायँगी, बिलकुल व्यर्थ है। स्वयं पंडितजी के कथनानुसार हिंदी-उर्दू १५० वर्षों से हैं; आज तक बँगला, मराठी, गुजराती आदि का विभाजन क्यों नहीं हुआ? इसका कारण यही है न कि उर्दू का जन्म जिन परिस्थिथियों में हुआ, वे बंगाल, गुजरात इत्यादि में उत्पन्न ही नहीं हुईं। यदि सांप्रदायिकता की भावना से प्रेरित होकर आज ऐसा करने का प्रयत्न किया जाता है, तो बात दूसरी है। इसके लिये हिंदी और उर्दू को दोष नहीं दिया जा

सकता। लेकिन यह प्रयत्न सफल तभी होगा, जब बँगला, गुजराती इत्यादि को दो लिपियाँ हो जायँ। परंतु हिंदुस्तानी-वाले पहले से ही हिंदुस्तानी के लिये दो लिपियाँ रखना चाहते हैं, फिर उनका दो बँगला, दो गुजराती इत्यादि होने का डर दिखाना क्या अर्थ रखता है।

पंडितजी ने अदालतों की भाषा के विषय में जो सम्मति दी है, वह भी ध्यान देने योग्य है। आप फ़रमाते हैं—और जगहों की भाँति अदालतों में भी दोनो लिपियाँ मान्य होनी चाहिए, लेकिन शब्द एक ही हों, और ऐसे हों, जो हिंदू और मुसलमान, दोनो की समझ में आते हों। चूँकि अदालती भाषा अब तक उर्दू रही है, और अदालत से संबंध रखने-वाले हिंदू और मुसलमान, दोनो को उर्दू के अदालती शब्द मालूम हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि भाषा और शब्द वे ही बहाल रहें, केवल हिंदी-लिपि और चालू कर दी जाय। कुछ दिन बाद यह कहा जायगा कि चूँकि रेडियो की 'हिंदुस्तानी' में ये ही शब्द अब तक प्रयुक्त हुए हैं, और इन्हें हिंदू और मुसलमान सुननेवाले एक समान समझने लगे हैं, इसलिये ये ही शब्द रहें, केवल रेडियो के कर्मचारियों को हिंदी-लिपि में भी काम करने की सुविधा दे दी जाय। अगर पंडितजी का यही अभिप्राय है, तो वह जनता की भाषा और हिंदी के घोर शत्रु हैं। ऐसी हालत में हम तो पंडितजी से यह पूछेंगे कि चूँकि अँगरेज़ी के अदालती शब्द,

पारिभाषिक शब्द, टेकनिकल शब्द सब शिक्षितों को (अशिक्षितों की बात करना बेकार है, इन्हें तो किसी प्रकार के शब्द नहीं मालूम) मालूम हैं. और उनकी 'हिंदुस्तानी' में प्रचलित भी हैं, इसलिये उन्हें ही क्यों न रक्खा जाय ? इससे एक सुविधा और होगी, वह यह कि समूचे भारत के लिये (वरन् यह कहिए, आधी दुनिया के लिये) वे ही शब्द निकलेंगे, और जिन लोगों का अदालतों से वास्ता नहीं पड़ा, उनके लिये भी बोधगम्य होंगे। एक और आसानी यह रहेगी कि अँगरेज़ी के शब्द केवल हिंदुओं और मुसलमानों को ही नहीं, वरन् भारतीय ईसाइयों, सिक्खों, पारसियों इत्यादि को भी मान्य और बोधगम्य होंगे। हैं पंडितजी तैयार ? आगे चलकर पंडितजी ने खुद कहा है कि हमें किसी लिपि-विशेष या शब्द-स्रोत-विशेष से द्वेष-भाव छोड़ देना चाहिए। फिर अँगरेज़ी के शब्दों से ही द्वेष क्यों न छोड़ दिया जाय ? अँगरेज़ी के बने-बनाए शब्दों को छोड़कर अरबी-फ़ारसी या संस्कृत के शब्द क्यों लिए जायँ ? अँगरेज़ी के अदालती, पारिभाषिक शब्दों का चलन तो अरबी-फ़ारसी या संस्कृत के शब्दों से कहीं अधिक है, क्योंकि जहाँ इनका काम पड़ता है, वहाँ अँगरेज़ी ही राज-भाषा है, फिर इन्हीं को रखने में क्या हानि है ? लिपि भी केवल रोमन ही क्यों न रक्खी जाय ? उससे ही द्वेष क्यों किया जाय ? जो अदालतों के लिये किया जाय, वही भाषा

के मामले में समस्त राजकार्य, शिक्षा और प्रबंध की भाषा के लिये लागू हो। अधिकांश जनता तो अशिक्षित है, उसके पास किसी प्रकार के शब्द नहीं; वह इन्हें ही सीख लेगी।

यह बात भी समझ में नहीं आई कि जब पंडितजी किसी लिपि-विशेष से द्वेष-भाव छोड़ने की सलाह देते हैं, तब उन्हें इसमें क्या आपत्ति है कि एक प्रदेश में एक ही लिपि में सरकारी काम हो, जिससे दोहरी मेहनत और अपव्यय बच जाय। किसी को इस लिपि से द्वेष तो होगा ही नहीं, और हिंदुस्तानीवालों के प्रताप से यह लिपि सब जानते भी होंगे। फिर वे दोनो लिपियों की बात क्यों करते हैं? साफ़ ज़ाहिर है कि पंडितजी दोनो लिपियाँ सांप्रदायिक कारणों से रखना चाहते हैं। क्या वे ही कारण हिंदी उर्दू के अलग-अलग शब्दों को रखने के लिये मजबूर नहीं करेंगे?

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अधिकांश पारिभाषिक शब्द भाषा से एक अलग चीज़ नहीं होते। वे उन्हीं धातुओं से बनते हैं, जिनसे भाषा बनती है, और एक व्यक्ति को, जिसे भाषा का साधारण ज्ञान है, अपनी भाषा के पारिभाषिक शब्द समझने या याद रखने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती; लेकिन दूसरी भाषा के पारिभाषिक शब्दों से यह कठिनाई बहुत बढ़ जाती है। उदाहरण के

लिये जो केवल मंत्री और मंडल जानता है, वह मंत्री-मंडल शब्द के पहलेपहल आने पर उसका अर्थ समझ लेगा, लेकिन 'कैबीनेट' या 'वजारत' उसके लिये अर्थ-हीन शब्द होंगे। साधारण हिंदी जाननेवाला लिखित वक्तव्य, स्वयंसिद्ध, काल्पनिक विषय, स्वत्वाधिकार-पत्र, धर्माधीन कथन, मान-हानि, विच्छेद, स्वत्व, सामयिक विधान, संयुक्त परिवार, राजस्व-युक्त, विभक्त संपत्ति, मौन-सम्मति, भावी उत्तराधिकारी, वंशावली, स्वस्थ-बुद्धि आदि समझ लेगा, लेकिन बयान तहरीरी, अम्र बादिही, अम्र मफ़रूजा, असनाद मिल्कियत, इक़रार स्वालह, इजाले हैसियत उर्फ़ी, इन्फ़िसाक, इस्तहक़ाक़, क़ानून मुख्तस्सुल वक़्त, खान-दान मुश्तर्का, ग़ैर मुशख्खिसा, जायदाद मुनक़सिमा, तस्लीम बिल सकूत, वारिसे अदी, शजरा, सही-उल-अक़्ल आदि उसके लिये अरबी-फ़ारसी होंगे। यही बात साधारण उर्दू या अँगरेजी जाननेवाले के साथ लागू है, इसलिये पारि-भाषिक शब्दों की समस्या भाषा की समस्या से अलग नहीं है। पारिभाषिक शब्द भाषा के अंग हैं। यह नहीं हो सकता कि और कार्यों के लिये तो हिंदी और उर्दू अलग हों, लेकिन अदालती शब्द या अन्य पारिभाषिक शब्द दोनो के एक हों। यदि जनता की शिक्षा हिंदी और उर्दू में होती है, तो अदालती काम में भी हिंदी जाननेवाले के लिये हिंदी के अदालती शब्द और उर्दू जाननेवाले के लिये उर्दू के

पारिभाषिक शब्द सरल और बोधगम्य होंगे। भाषा उसी का नाम है, जिसमें प्रत्येक विषय को समझने के लिये साधारण भाषा-ज्ञान रखनेवाले को पहले उस विषय की एक लंबी-चौड़ी विशिष्ट शब्दावली न घोटना पड़े। हिंदी जाननेवाले ग्रामीण को अदालती काम में तभी सुविधा होगी, जब उसके पास जो नोटिस, सम्मन और हुक्म नामे जायँ, उनमें हिंदी के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हो, क्यों कि वह अदालती शब्दावली का पंडित नहीं हो सकता।

अंत में हम पंडितजी की दी हुई हिंदुस्तानी की परिभाषा पर विचार करेंगे। आपके अनुसार साधारण दैनिक आवश्यकताओं के लिये हिंदुस्तानी वह भाषा है, जिसे उत्तरी भारत के नगरों और पड़ोस के गाँवों में, विशेष कर पश्चिमी और मध्य युक्त-प्रांत, दिल्ली और पूर्वी पंजाब में, हिंदू और मुसलमान बोलते हैं. और साहित्य के लिये हिंदुस्तानी हिंदी और उर्दू का एक सुंदर घोल होगी। पंडितजी की बोलचाल की हिंदुस्तानी सहज ही तीन-चार रूपों में बाँटी जा सकती है—हिंदी, उर्दू, 'बाबूहिंदुस्तानी' और विविध अनुपात में हिंदी और उर्दू का मिश्रण, इस-लिये बोलचाल की हिंदुस्तानी का कोई निश्चित स्वरूप नहीं, और उसमें वे ही भेद देख पड़ते हैं, जो हिंदी और उर्दू में हैं। लिपियाँ भी तीन प्रचलित हैं—देवनागरी, उर्दू और रोमन। साहित्यिक हिंदुस्तानी खुद पंडितजी के कथना-

नुसार अभी तक कल्पना-लोक की वस्तु है, और परि-स्थितियों के देखते हुए कहना पड़ता है कि वह कल्पना-लोक की ही वस्तु रहेगी। केवल एक 'हिंदुस्तानी' नाम रटने से अधिक लोग अधिक समय तक भ्रम में नहीं डाले जा सकते; पंडितजी चाहे एड़ी-चोटी का जोर लगा दें।

हिंदुस्तानी की बला

(श्रीसियारामशरण गुप्त के लेख के उत्तर में)

पहली एप्रिल, १९४५ के 'देशदूत' में गांधीजी के हिंदुस्तानी आंदोलन के समर्थन में श्रीसियारामशरण गुप्त का एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख को पढ़कर यह प्रतीत होता है कि हिंदुस्तानी आंदोलन का गांधीजी और कांग्रेस से संबंध होने के कारण बहुत-से हिंदीवालों पर ऐसा जादू चल गया है कि उन्होंने अपनी बुद्धि से काम लेना ही छोड़ दिया है।

गुप्तजी कहते हैं, गांधीजी का उद्देश्य हिंदी (या उर्दू) को हानि पहुँचाना नहीं, वह केवल एक राष्ट्र-भाषा अविलंब चाहते हैं, और 'हिंदुस्तानी' को राष्ट्र-भाषा मान लेने से हिंदी को कोई हानि नहीं पहुँचेगी। लेकिन गुप्तजी ने यह नहीं बतलाया कि 'हिंदुस्तानी' है क्या चीज़, और हिंदी में कौन-सी त्रुटि है, जिसके कारण हिंदी को राष्ट्र-भाषा न मानकर किसी अदृश्य 'हिंदुस्तानी' को राष्ट्र-भाषा मानें। क्या 'हिंदुस्तानी' का नारा इसलिये लगावें कि गांधीजी चाहते हैं? गांधीजी अवश्य एक महान् पुरुष हैं, लेकिन

क्या उनसे ग़लतियाँ नहीं हुई हैं ? उन्होंने अपनी ग़लतियों को स्वयं स्वीकार किया है ; क्या पता, इस हिंदुस्तानी के मामले में भी वह ग़लती कर रहे हों। गांधीजी हमारे मुख्यतः राजनीतिक नेता हैं, लेकिन राष्ट्र-भाषा का प्रश्न केवल राजनीतिक प्रश्न नहीं। जब तक हमारी बुद्धि को संतोष नहीं हो जाता, तब तक हम उनकी हिंदुस्तानी की बात को आँख मूँदकर नहीं मान सकते। हमारी बुद्धि तो यह कहती है कि इस हिंदुस्तानी आंदोलन के पीछे केवल राजनीतिक कारण हैं, इसका तार्किक आधार कुछ भी नहीं, और हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा अथवा गांधीजी का चाहे यह उद्देश्य न हो, लेकिन हिंदुस्तानी आंदोलन से हिंदी को बड़ी ज़बरदस्त हानि पहुँचेगी, बल्कि यहाँ तक हो सकता है कि यदि हिंदी-संसार ने इस संकट का, जो राष्ट्रीयता का रूप धरकर आया है, जमकर मुक़ाबला न किया, तो राष्ट्र-भाषा होना तो दूर, हिंदी प्रांतीय भाषा भी नहीं रह जायगी, उसका अस्तित्व ही मिट जायगा। उर्दू का बाल बाँका न होगा, वह ज्यों-की-त्यों रहेगी, और कालांतर में हिंदुस्तानी और उर्दू में कोई अंतर नहीं रहेगा। आज जो उर्दू लिखी जाती है, उसमें हिंदी के चार शब्द भी नहीं बढ़ेंगे, लेकिन हिंदीवाले राष्ट्रीय हैं, और हिंदुस्तानी के नाम से हिंदी में अरबी-फ़ारसी-शब्दों की बाढ़ आ जायगी। हिंदी विकृत होती चली जायगी, हम अपनी संस्कृति और देश क आत्मा से दूर होते चले जायँगे,

और हमारा पुराना हिंदी-साहित्य हमारे लिये संस्कृत-साहित्य की भाँति मृत साहित्य हो जायगा। हिंदीवाले 'ख़ामोशी', 'लफ़्ज़', 'ज़बान' की भाँति सभी अरबी-फ़ारसी के शब्द अपना लेंगे, लेकिन उर्दूवाले भूलकर भी 'निस्तब्धता', 'शब्द', 'भाषा' आदि नहीं लिखेंगे (उनकी लिपि में हिंदी के बहुत-से शब्द लिखे ही नहीं जा सकते), परिणाम यह होगा कि अंत में हिंदुस्तानी में केवल अरबी-फ़ारसी के शब्द रह जायँगे, वे ही 'कामन' भाषा या 'आमफ़हम' भाषा क शब्द माने जायँगे ❀। ऐसा होने का एक बड़ा कारण यह भी

❀ रह-रहकर यह प्रस्ताव पेश किया जाता है कि जितने अरबी-फ़ारसी के शब्द हिंदी के गण्य-मान्य लेखकों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं या होते हैं, और जितने संस्कृत के शब्द उर्दू के गण्य-मान्य लेखकों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं या होते हैं, वे 'हिंदुस्तानी' के लिये मान्य समझे जायँ, और उन्हें कोष-बद्ध कर उनके आधार पर हिंदुस्तानी का ढाँचा खड़ा किया जाय। हिंदीवाले उदार हैं, उर्दू का थोड़ा-सा भी प्रचलित ऐसा कोई शब्द नहीं, जो हिंदी में कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी न आता हो, लेकिन उर्दूवालों ने हिंदी और संस्कृत-शब्दों का ज़माने से यथाशक्ति पूर्ण बहिष्कार कर रक्खा है। इसलिये 'हिंदुस्तानी' के इस फ़ार्मूले का अर्थ यह हुआ, जैसा श्रीसंपूर्णानंदजी ने इंगित किया है, कि भारत की भारती मे हमारे हज़ारों साल पुराने प्रचलित शब्द तट, मंत्री, नगर नहीं रहेंगे, रहेंगे केवल किनारा, वज़ीर, शहर। कुछ और मिसालें लीजिए। हिंदी में मिसाल, एतराज़, तंदुरुस्ती, मेहमान, मुलाक़ात, जमीन, ताज्जुब, इत्तिफ़ाक़, मुमकिन, अक्सर, रास्ता, फ़ैसला, तरफ़, दिल, आदमी या

होगा कि उर्दू-लेखक, विशेषकर मुसलमान, हिंदी जानते ही नहीं, और न जानने की परवा करते हैं, हिंदी से द्रोह तो

इंसान, अगर, मगर, ज़रूरत, इंतज़ार, सही, ग़लत, तकलीफ़, बेवक़ूफ़, बीबी, औरत, नज़र, आसमान, इंतज़ाम, क़ब्ज़ा, फ़ौज, ख़ास, जवाब, नतीजा, ख़याल, अमल में, मौजूद, आयंदा, जगह, वजह, शुक्रिया, रोज़ी, हज़ार, हमला, सरहद, तहज़ीब, इस्तेमाल, ग़रीब, क़िला, तरकीब, काफ़ी, इलाक़ा, ख़िलाफ़, ख़त, कोशिश, दवा, क़ीमत, उम्र, दिलचस्प, मशहूर, आसान, क़ाबिल, दुनिया, क़बूल, चीज़, मर्द, अंदेशा, हरएक, शक, आवाज़, नक़ल, मुताबिक़, शरीक, तालीम, एलान, इत्तिला, मदद, वादा, रोशनी, खुश, निशान, शुरू, ख़त्म, इशारा, ज़्यादा, मेहरबानी आदि निर्विरोध आते हैं, लेकिन साथ ही उदाहरण, आपत्ति, स्वास्थ्य, अतिथि, भेंट, पृथ्वी या भूमि, आश्चर्य, संयोग, संभव, प्रायः, मार्ग, निर्णय, ओर, हृदय, मनुष्य या मानव, यदि, परंतु, आवश्यकता, प्रतीक्षा, शुद्ध, अशुद्ध, कष्ट, मूर्ख, पत्नी, स्त्री, दृष्टि, आकाश, प्रबंध, अधिकार, सेना, विशेष, उत्तर, निष्कर्ष, विचार, वास्तव में, उपस्थित, भविष्य में, स्थान, कारण, धन्यवाद, जीविका, सहस्र, आक्रमण, सीमा, सभ्यता, व्यवहार, निर्धन, दुर्ग या गढ़, उपाय, पर्याप्त, प्रदेश, विरुद्ध, पत्र, प्रयत्न, ओषधि, मूल्य, अवस्था या आयु, मनोरंजक, प्रसिद्ध, सरल, योग्य, संसार या जगत, स्वीकार, वस्तु, पुरुष, आशंका, प्रत्येक, संदेह, ध्वनि, प्रतिलिपि, अनुसार, सम्मिलित, शिक्षा, घोषणा, सूचना, सहायता, वचन, प्रकाश, प्रसन्न, चिह्न, आरंभ, समाप्त, संकेत, अधिक, कृपा आदि भी निर्विरोध आते हैं, पर उर्दू वाले इन शब्दों को भूलकर भी नहीं लिखते, इसलिये 'हिंदुस्तानी' में हमारे ये प्राचीन और प्रचलित शब्द, जिनमें हमारा साहित्य, जीवन और इतिहास है,

करते ही हैं, लेकिन अधिकांश हिंदी-लेखक उर्दू जानते हैं, और अच्छी जानते हैं, वे ही राष्ट्रीयता का ग़लत अर्थ लगा-कर हिंदुस्तानी के नाम पर हिंदी को अरबी-फ़ारसीमय बना सकते हैं। जो मुसलमान गांधीजी के साथ हैं अथवा होंगे, वे यह सोचकर कि उर्दू तो राष्ट्र-भाषा होने से रही, हिंदी अवश्य अपनी आंतरिक शक्ति से राष्ट्र-भाषा हो जायगी, इसलिये हिंदुस्तानी के बहाने हिंदी को जितना भी अरबी-फ़ारसीमय बनाया जा सके, उतना ही अच्छा। हिंदी के नाश होने और अंत में हिंदुस्तानी के उर्दू हो जाने का एक कारण यह भी होगा कि पंजाब, सीमा-प्रांत, सिंध आदि में तो विशुद्ध उर्दू चलती रहेगी, वहाँ न 'हिंदुस्तानी' चलेगी, न हिंदी-लिपि (क्योंकि वहाँ कांग्रेस की पहुँच ही नहीं), बस केवल हिंदी-प्रांतों में कांग्रेस द्वारा हिंदुस्तानी और उर्दू-लिपि चलाई जायँगी। गांधीजी ने स्पष्ट कहा है कि वह हिंदी और उर्दू को मिलाकर एक करना चाहते हैं। आख़िर कोई-न-कोई तो 'हिंदुस्तानी' लिखेगा ही। ये सब हिंदीवाले और हिंदी-

---

नहीं रहेंगे, और हम अपने साहित्य और देश की आत्मा से सदा के लिये दूर हो जायँगे। स्पष्ट है कि हिंदुस्तानी का यह फ़ार्मूला डॉ० ताराचंद-जैसे उर्दू-हिंदुस्तानी और मौलवी हक़-जैसे उर्दू के पक्षपातियों की एक चाल है, जिसके द्वारा वे उर्दू को 'बैक डोर' से लाकर राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं। परंतु लक्षण ये ही हैं कि गांधीजी का हिंदुस्तानी-बोर्ड इस फ़ार्मूले द्वारा हिंदीवालों को फाँसने का प्रयत्न करेगा।

प्रांतों के निवासी ही होंगे, और हिंदी-प्रांतों पर ही हिंदी हटा-कर हिंदुस्तानी लादी जायगी। राष्ट्र-भाषा शून्य में तो टिक नहीं सकती, किसी-न-किसी प्रदेश की वह प्रादेशिक अथवा कामन भाषा होगी ही। ये प्रदेश हिंदी-प्रांत ही होंगे, और यहीं हिंदी-उर्दू का झगड़ा मिटाने के नाम से राष्ट्र-भाषा 'हिंदुस्तानी' प्रांतीय, राजकाज और शिक्षा की भाषा बनाई जायगी। उर्दू-प्रांतों में उर्दू बिना किसी विघ्न-बाधा के फलती-फूलती रहेगी; बस केवल हिंदी का अस्तित्व मिट जायगा, और उसके स्थान में 'हिंदुस्तानी' आ जायगी। इस हिंदुस्तानी को उत्तरी भारत के सब प्रांतों में 'आम फ़हम' और हिंदू-मुसलमान दोनो के लिये एक समान बोधगम्य होने के लिये धीरे-धीरे अपने आप उर्दू बन जाना पड़ेगा। यही उद्देश्य है, जो डॉ० ताराचंद-जैसे उर्दू के पक्के पक्षपातियों को हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा में ले आया है। हाल में प्रयाग-विश्वविद्यालय की हिंदी-साहित्य-परिषद् के सम्मुख भाषण देते हुए उन्होंने साफ़ कह दिया कि 'हिंदुस्तानी' में संस्कृत के तत्सम शब्दों का सर्वथा बहिष्कार किया जायगा (फिर गुप्तजी की कविता कौन समझेगा?)। हिंदुस्तानी-कोष बनाने का प्रस्ताव डॉ० ताराचंद ने ही पेश किया था, वही इन सब बातों की जड़ में हैं, और वही हिंदीवालों को नाच नचाना चाहते हैं। मौलाना नदवी-जैसे उन्हें सहायक मिल गए हैं। गांधीजी इस बात पर अफ़सोस कर ही चुके हैं कि

नागपुर में उन्होंने मौलाना अब्दुलहक़ की 'हिंदी यानी उर्दू-' वाली बात नहीं मानी। मौलाना हक़ का कहना है कि उर्दू हिंदी का परिष्कृत रूप है (Urdu is a polished form of Hindi) और उनका 'हिंदी यानी उर्दू' से यही मतलब है। गांधीजी अब उनसे सहमत हैं। वह अब किस अरबी-फ़ारसी-शब्द के लिये कह सकते हैं कि इसे हिंदुस्तानी में मत रक्खो। श्रीश्रीमन्नारायण के यह कहने से कि रेडियो की हिंदुस्तानी को हिंदुस्तानी नहीं कहा जा सकता, क्या होता है। वह क्या कर सकते हैं। जब 'ज़बान', 'लफ़्ज़', 'मक़सद' आदि आ ही गए, तो रेडियो की हिंदुस्तानी का कौन-सा शब्द ग़ैर-हिंदुस्तानी कहा जायगा। हमें यह नहीं देखना है कि श्रीश्रीमन्नारायण क्या कहते हैं, अथवा गांधीजी क्या विश्वास दिलाते हैं। हमें तो यह देखना है कि इस हिंदुस्तानी नाम का और इस हिंदुस्तानी आंदोलन का क्या परिणाम होगा। जब तीर छूट चुका, तो श्रीश्रीमन्नारायण और गांधीजी क्या कर लेंगे। ११ एप्रिल, १९४५ की पत्रिका में प्रकाशित एक सार-गर्भित अँगरेज़ी लेख में श्रीबालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने यह स्पष्ट कर दिया है कि केवल 'हिंदुस्तानी' नाम से कितना अनर्थ होता है। 'हिंदुस्तानी' में कौन-से अरबी-फ़ारसी के शब्द अवांछित समझे जायँगे और कौन-से वांछित? गुप्तजी को 'मौन दिवस' निकल जाने का अफ़सोस है, लेकिन साथ ही वह यह कहते हैं कि 'खामोशी' हिंदी में है ही। 'बादशाह' भी

हिंदी में है, फिर 'बादशाह राम' पर भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए, 'बेगम सीता' से भी नहीं, 'मौलवी वाल्मीकि' से भी नहीं। ऐसा है कौन-सा उर्दू का शब्द, जो हिंदी में नहीं है? पूरा-का-पूरा 'फ़रहंग-ए-आसफ़िया' हिंदी-शब्द-सागर में समाया हुआ है, एक बार जब द्वार खुल गया तो गुप्तजी कहाँ लकीर खींचेंगे कि बस, यहाँ तक अरबी-फ़ारसी, इसके आगे नहीं। गांधीजी ने 'शिक्षा' को निकालकर 'तालीम' कर दिया है ('हिंदुस्तानी तालीमी संघ', 'नई तालीम'), इस पर गुप्तजी को कोई आपत्ति है या नहीं? गांधीजी ने अपने हिंदुस्तानी-प्रचार-कॉन्फ़्रेंस में दिए हुए भाषणों में "ज़बान, लफ़्ज़, बदनसीबी, औलाद, फ़िरक़े, ख़यालों, तादाद, वक़्त, मार्फ़त, ख़िलाफ़, ख़िदमत, मुताबिक़, मक़सद" आदि का प्रयोग क्यों किया, "भाषा, शब्द, दुर्भाग्य, संतान, दल, विचार, संख्या, समय, द्वारा, विरुद्ध, सेवा, अनुसार, उद्देश्य" का प्रयोग क्यों नहीं किया, क्या गुप्तजी बता सकते हैं? गुप्तजी कहते हैं, उस सभा में गांधीजी ऐसे कोई शब्द नहीं बोलना चाहते थे, जिन्हें उस सभा में उपस्थित कोई सभ्य न समझता हो। क्या गुप्तजी गारंटी दे सकते हैं कि उपस्थित सब सभ्यों ने गांधीजी के भाषणों में प्रयुक्त "शैली, लिपि, राष्ट्र-भाषा, कारण, प्रस्ताव, नष्ट, स्वीकार, विरोध, आरंभ, भाषण, मर्यादा" आदि शब्दों को समझ लिया? यदि इन शब्दों को समझ लिया, तो क्या 'मौन-दिवस' नहीं समझ

सकते थे, अथवा क्या वे "भाषा, शब्द, दुर्भाग्य, संतान, दल, विचार, संख्या, समय, द्वारा, विरुद्ध, अनुसार, उद्देश्य" नहीं समझ सकते थे ? फिर अपने इन पुराने प्रचलित शब्दों को निकालकर "ज़बान, लफ़्ज़ ····· मक़सद" को प्रयुक्त करने की क्या ज़रूरत थी ? यदि ऐसी कोई भाषा होती, जिसे सब सभ्य समझ लेते, तो फिर बात ही क्या थी ? भाषा का झगड़ा ही क्यों उठता ? गांधीजी का हिंदुस्तानी बोर्ड ही किसलिये बनाया जाता ? यह भी ख़ूब रही कि जब गांधीजी दक्षिण के प्रांतों में जायँगे, तब तो उनकी भाषा संस्कृतमयी होगी, और जब सीमा-प्रांत आदि में होंगे, तब जितनी वह जानते हैं, उतनी उनकी भाषा फ़ारसीमयी होगी। गुप्तजी इस पर टिप्पणी करते हैं कि यह ऐसी बात है, जिसका विरोध नहीं किया जा सकता। मैं कहता हूँ, यह बात बिल-कुल बेसिर-पैर की है। जो काम गांधीजी अपनी इस रंग बदलनेवाली 'हिंदुस्तानी' से लेना चाहते हैं, वह हिंदी और उर्दू कर ही रही हैं, फिर 'हिंदुस्तानी' क्या चीज़ है ? वह उस सभा में किस भाषा का प्रयोग करेंगे, जिसमें सीमा-प्रांतवाले भी उपस्थित हैं, और दक्षिणवाले भी ? भारत की पार्लियामेंट में कौन-सी भाषा में काम होगा ? अखिल भारतीय समाचार-पत्रों में किन शब्दों का प्रयोग होगा ? हमें सख़्त अफ़सोस है कि मुसलमानों के डर और गांधीजी के हिंदुस्तानी-वाद के कारण बड़े-बड़े साहित्यिकों की बुद्धि पर परदा पड़ गया है,

और वे यही भूल गए हैं कि राष्ट्र-भाषा है क्या चीज, और उससे हम क्या काम लेना चाहते हैं !

गुप्तजी कहते हैं, कांग्रेस ने पहले से ही हिंदुस्तानी को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार किया है, गांधीजी का यह हिंदुस्तानी आंदोलन कोई नई बात नहीं, और कांग्रेस के मंच पर मालवीयजी तथा हिंदी की अन्य विभूतियाँ भी हिंदी में नहीं, हिंदुस्तानी में बोलती हैं। कांग्रेस के विधान में 'हिंदुस्तानी' को स्थान टंडनजी ने दिलाया था। उन्होंने एक वक्तव्य में यह स्पष्ट कर दिया है कि उनका 'हिंदुस्तानी' से तात्पर्य 'हिंदी या उर्दू' से था। वास्तव में हिंदी और उर्दू से भिन्न ऐसी कोई 'हिंदुस्तानी' है ही नहीं, जिसमें किसी गंभीर विषय पर भाषण दिया जा सके। क्या मालवीयजी की हिंदुस्तानी वही है, जो पंडित जवाहरलाल या मौलाना अबुलकलाम आज़ाद की है ? क्या मालवीयजी, पंडितजी, गांधीजी, मौलाना आज़ाद आदि कांग्रेस के मंच से 'हिंदुस्तानी' में एक ही शब्दों का प्रयोग करते हैं ? इस सब गड़बड़ का कारण यही है न कि कोई निश्चित 'हिंदुस्तानी' है ही नहीं, जो राष्ट्र-भाषा हो सके। कांग्रेस की ओर से एक काल्पनिक 'हिंदुस्तानी' का लाइसेंस मिला हुआ है, जिसके जी में जो आता है, वह उसी शब्द का प्रयोग कर देता है। इसलिये यह कहना कि 'हिंदुस्तानी'-नामक कोई ऐसी साहित्यिक भाषा है, जिसे कांग्रेस ने पहले से राष्ट्र-भाषा माना

है, या यह कहना कि गांधीजी का हिंदुस्तानी-प्रचार नई बात नहीं है, बिलकुल ग़लत है। वास्तव में गांधीजी २५ वर्ष पहले हिंदी के समर्थक थे, दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा इसका जीता-जागता प्रमाण है, वही अब पलटे हैं, और किसी तर्क-वर्क के बल पर नहीं, केवल मुसलमानों को खुश करने के लिये और उनके हिंदी के प्रति अकारण द्रोह के कारण सांप्रदायिकता की वेदी पर हिंदी की बलि चढ़ा रहे हैं, और हिंदी और उर्दू को, जिनकी अपनी-अपनी कई सौ साल पुरानी परंपराएँ हैं, अकारण ज़बरदस्ती एक करने की बात कर रहे हैं। "देश के दुर्भाग्य से इधर स्थिति ऐसी हो गई है कि मुसलमान बंधुओं को हिंदी में सांप्रदायिकता की गंध आती है। इसी से कांग्रेस ने पहले से ही हिंदुस्तानी को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार किया है।"—यह कहकर गुप्त-जी ने स्वयं कांग्रेस की हिंदुस्तानी और गांधीजी के हिंदुस्तानी-प्रचार की पोल खोल दी है। किसी तर्क से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि एक शब्द को, जिसे ४/५ भारत के हिंदू और मुसलमान समझते हैं, केवल इसलिये निकालकर उसके स्थान में अरबी-फ़ारसी का शब्द रख दिया जाय कि १/५ भारत के मुसलमान उसे नहीं समझते या नहीं चाहते। उस अरबी-फ़ारसी के शब्द को भी तो ४/५ भारत नहीं समझेगा। किसी-न-किसी को तो वह शब्द सीखना पड़ेगा ही; क्यों न थोड़े-से मुसलमान ही उसे सीखें? हम अपने किसी प्राचीन

और प्रचलित देशी शब्द को क्यों छोड़ें ? और भविष्य में भी बँगला, मराठी, गुजराती (बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में भी तो मुसलमान हैं) आदि अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति संस्कृत का पूरा सहारा क्यों न लें ?

हिंदुस्तानी-प्रचार-सम्मेलन में दिए हुए गांधीजी के भाषणों की भाषा के विषय में गुप्तजी फ़रमाते हैं—"अभी तक गांधीजी जैसी हिंदी लिखते या बोलते रहे हैं, उसे यदि हमने, भाषा-संबंधी कुछ त्रुटियों के रहते हुए भी, हिंदी माना है, तो हमें इस भाषा को भी हिंदी मानने में आपत्ति न करनी चाहिए, भले ही वह उसे हिंदुस्तानी कहें। हिंदी के ब्रज, अवधी आदि रूपों को हमने सदैव हिंदी ही माना है, और मेरा यह विश्वास रहा है, इस सूची में आधुनिक बँगला, मराठी और गुजराती आदि भी किसी अंश तक ली जा सकती हैं।" आख़िर गुप्तजी ने अपना असली मतलब साफ़-साफ़ कह ही तो दिया। उनकी राय में, हमें बस हिंदी नाम नहीं छोड़ना चाहिए, भाषा चाहे जैसी हो। गांधीजी की पहलेवाली हिंदी भी हिंदी थी, आज की 'हिंदुस्तानी' भी हिंदी है, कल की 'हिंदुस्तानी' भी हिंदी होगी, और सबकी हिंदुस्तानी भी हिंदी है; मौलाना आज़ाद की 'हिंदुस्तानी' भी हिंदी है (अख़बारों में औरों की हिंदुस्तानी की कौन कहे, मौलाना आज़ाद की भाषा के लिये भी 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग होता है), दक्षिण-प्रांतों में गांधीजी की

'संस्कृतमयी भाषा' भी हिंदी होगी, और सीमा-प्रांत में जितनी वह जानते हैं, उतनी 'फ़ारसीमयी भाषा' भी हिंदी होगी। हमें इस पर केवल इतना कहना है कि फिर हिंदी कुछ भी नहीं है, बस एक क्रिया और विभक्ति-समूह का नाम है। अब वह भी नहीं रहा, क्योंकि बँगला, मराठी और गुजराती भी हिंदी हैं, कुछ अंश में ही सही ❀।

गुप्तजी का यह कहना कि इस समय दोनो लिपियाँ मान ली जायँ, आगे चलकर लोकमत इस निश्चय को आप बदल देगा, बिलकुल गलत है। दोनो लिपियों के रहते भाषा एक हो ही नहीं सकती, और आज दोनो लिपियों के माने जाने पर दस-बीस वर्ष बाद मुसलमान कभी उर्दू-लिपि छोड़े जाने पर सहमत न होंगे। जो साहित्य उर्दू-लिपि में लिखा जायगा, उसे भी हिंदी-लिपि में नहीं छापा जा सकेगा। लिपि के विषय में तर्क के लिये कोई गुंजाइश ही नहीं, फिर दोनो लिपियाँ क्यों लादी जाती हैं? क्या इसी से यह प्रकट नहीं हो जाता कि हिंदुस्तानी आंदोलन राजनीतिक आंदोलन है, इसका आधार तर्क नहीं, सांप्रदायिकता है। यदि उर्दू-

❀ गुप्तजी का सब प्रकार की हिंदियों और हिंदुस्तानियों का 'हिंदी' के साथ जोड़ मिलाना ऐसा ही है, जैसा यह कहना कि हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी एक ही भाषा है। इसका विस्तृत विवेचन 'पं० रामनरेश त्रिपाठी और हिंदुस्तानी'-शीर्षक लेख में किया गया है।

लिपि भी राष्ट्र-भाषा के लिये मान्य हुई, तो राष्ट्र-भाषा में हिंदी देखने को न मिलेगी। हिंदी-शब्दों की अपने आप कपाल-क्रिया हो जायगी। इसके अलावा दोनो लिपियों में लिखने की सुविधा के बहाने बहुत-से हिंदी-शब्दों को निकाल बाहर कर दिया जायगा। वैसे भी जब कोई उर्दू-लिपि में लिखने बैठेगा, तब उसे उर्दू-लिपि की आवश्यकता ऐसा करने के लिये अनजाने में प्रेरित करेगी; जब हिंदी और उर्दू पर्याय दोनो 'हिंदुस्तानी' हैं, तो फिर वह उर्दू-पर्याय क्यों न लिखेगा ❀? लिपि की बात ऐसी बात है, जिस पर समझौता होना बिलकुल असंभव है। निहायत अफ़सोस की

❀ उदाहरण के लिये कांग्रेस के बुलेटिन, विवरण और रिपोर्टें ही देख ली जायँ, जो उर्दू-लिपि में दो-एक अति सरल हिंदी-शब्दों को छोड़कर शुद्ध उर्दू और में हिंदी-लिपि [में ८० प्रतिशत उर्दू और २० प्रतिशत हिंदी में (जिसमें 'अदबी-संसार', 'कहानी उन्नति' जैसे वर्णसंकरी वाक्यांश भी आते हैं) छपती हैं। यहाँ पर कांग्रेस भी 'लिपि दो, परंतु भाषा एक'-वाली बात भूल जाती है। स्पष्ट है कि जब दोनो लिपियों में एक ही भाषावाले सिद्धांत का कड़ाई के साथ पालन होगा, तो उर्दू-लिपि की वेदी पर हज़ारों संस्कृत और हिंदी-शब्दों की बलि देने के सिवा कोई दूसरा चारा न होगा। वस्तुओं और व्यक्तियों के नामों की, जिनको निकालना या बदलना संभव नहीं है, दुर्गति हो जायगी, जैसे उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित ब्रजमोहन दत्तात्रेय ने उर्दू-लिपि की सुविधा के लिये स्वयं अपने नाम का उर्दू-संस्करण 'पंडत बरजमोहन दतारया' कर लिया है।

बात है कि जब बिना किसी तर्क के होते हुए मुसलमान विदेशी उर्दू-लिपि छोड़ने के लिये तैयार नहीं, और हिंदुस्तानी-वाले भी उनसे छोड़ने के लिये नहीं कहते, हम हरएक तर्क के अपने पक्ष में होने पर भी गांधीजी, डॉ० ताराचंद और पं० सुंदरलाल-जैसे व्यक्तियों के एक इशारे पर अपने हज़ारों साल पुराने और प्रचलित शब्द, जिनमें हमारा रोना, हँसना, हमारा जीवन और हमारा इतिहास भरा हुआ है, छोड़ने के लिये तैयार हैं (हिंदी और उर्दू के 'फ़्यूज़न' का सिवा इसके कोई दूसरा अर्थ नहीं कि हिंदी के आधे या और किसी अनुपात में शब्द निकालकर उसके स्थान में अरबी-फ़ारसी के शब्द रक्खे जायँ, और गांधीजी के हिंदुस्तानी-बोर्ड का सिवा इसके कोई दूसरा काम न होगा कि भविष्य के लिये भी आधे शब्द संस्कृत या अँगरेज़ी से और आधे अरबी-फ़ारसी से गढ़कर एक 'लेक्सिकन' तैयार कर दे, जिसे सर सुलतान अहमद और कांग्रेसी मंत्रिमंडल काम में लाकर गांधीजी का आशीर्वाद और त्रिवेणी-स्नान का पुण्य लूटें। गांधीजी की कृपा-दृष्टि केवल हिंदी पर है, बँगला, मराठी को छोड़िए, वह अपनी प्यारी गुजराती के साथ ऐसा करने के लिये कदापि तैयार न होंगे)। यह याद रहे कि अगर मुसलमान राष्ट्र-भाषा में उर्दू के मुक़ाबले कुछ कम उर्दू-शब्दों को रखने पर तैयार हैं, तो वे कोई त्याग नहीं करते, बिलकुल उचित

करते हैं। उनका देशी शब्दों के होते हुए उर्दू को विदेशी शब्दों से भरना ही अनुचित था। भारतीय मुसलमान फ़ारस और अरब से नहीं आए, वे हिंदुओं के ही एक अंग हैं, और उनकी सभ्यता और संस्कृति भारतीय सभ्यता और संस्कृति से भिन्न नहीं है, और न वे कभी अरबी और फ़ारसी बोलते थे। समय और राजनीतिक स्थिति के प्रभाव से समाज के एक छोटे-से अंग की भाषा में कुछ अरबी-फ़ारसी के शब्द घुस आए, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि देश की राष्ट्र-भाषा में अरबी और फ़ारसी मिलाई जायँ। उर्दू बना ली गई है, तो बना ली जाय, अँगरेज़ी भी भारत में लाखों की मातृभाषा है, लेकिन अँगरेज़ी, अरबी, फ़ारसी का राष्ट्र-भाषा से क्या संबंध है ❀? त्याग क्या आत्महत्या तो हम करते हैं, जब हम राष्ट्रीयता के झूठे अर्थ लगाकर, अपनी उपयोगी चीज़ों को त्याग-कर विदेशी चीज़ों को अपनाते हैं, और हिंदुस्तानी-वालों का फ़ार्मूला हिंदुस्तानी = $\frac{\text{हिंदी + उर्दू}}{२}$ † और हिंदु-

❀ देखिए परिशिष्ट ३

† यह निश्चित है कि हिंदू-मुस्लिम राजनीतिक विवाद का पिछले ४० वर्षों का इतिहास भाषा के क्षेत्र में भी दोहराया जायगा। पहले तो गांधीजी आदि यह कहेंगे कि अरबी-फ़ारसी को संस्कृत के बराबर स्थान कैसे दिया जा सकता है, लेकिन

स्तानी लिपि=हिंदी लिपि + उर्दू-लिपि, अर्थात् भाषा आधी देशी आधी विदेशी और लिपि एक देशी और एक विदेशी, मानते हैं। हिंदुस्तानीवालों का बस चले, तो वे आधी देवनागरी और आधी उर्दू-लिपि मिलाकर एक 'हिंदुस्तानी' लिपि भी बना डालें। इधर मुसलमानों ने लिपि के विषय में अपना पक्ष निर्बल देखकर और 'दोनो लिपि'वाली बात की असंदिग्ध अवैज्ञानिकता और अक्रियात्मकता के कारण अभी या निकट भविष्य में उर्दू-लिपि हटाए जाने की आशंका से घबराकर रोमन-लिपि का नारा बुलंद किया है (तर्क यह देते हैं—"इससे झगड़े दूर हो जायँगे"), और हमारे प्रसिद्ध राष्ट्रकर्मी, देश-प्रेमी पं० सुंदरलाल-जैसे हिंदुस्तानी के भक्त इनसे सहमत हैं, या वक्त पड़ने पर (अर्थात्

हिंदुस्तानी बोर्ड के मुसलमान सदस्यों के असहमत होने पर फिर यह कहा जायगा कि अच्छा, मुसलमानों की आबादी के अनुपात के अनुसार रहे, या इससे कुछ अधिक ३३%। श्री-जिन्ना के बताए रास्ते पर चलनेवाले भला इस बात को क्यों मानने लगे। अंत में 'पैरिटी' का फ़ार्मूला रक्खा जायगा, अर्थात् हिंदुस्तानी $=\frac{\text{हिंदी + उर्दू}}{२}$। फिर भी 'सरेन्डर' की इस नीति का क्या वही परिणाम होगा, जो राजनीति के क्षेत्र में हुआ है, यह कहना कठिन है, लेकिन इतना स्पष्ट है कि सबक़ अभी सीखा नहीं गया।

जब लिपि-विषयक विवाद हिंदुस्तानी को ही ले डूबता दिखाई दे) सहमत होने के लिये तैयार हैं। ऐसे लोगों से भला कभी समझौता हो सकता है, जो प्रत्येक भारतीय चीज़ से हिंदुओं की चीज़ होने के कारण घृणा की दृष्टि से देखते हैं, और इस डर से कि कहीं उन्हें एक भारतीय चीज़ बर्दाश्त न करना पड़ जाय, उसके स्थान में एक विदेशी चीज़ को ला बैठालने की चेष्टा करते और उसे अच्छा समझते हैं? आज तक गांधीजी या किसी अन्य हिंदुस्तानीवाले ने यह कहने का साहस क्यों नहीं किया कि राष्ट्र-भाषा की लिपि एक ही हो सकती है? वह यही समझते हैं न कि मुसलमान अपनी विदेशी लिपि छोड़ेंगे नहीं, चाहे राष्ट्र-भाषा बने या न बने, बस हिंदुओं की ही ग़रज़ है, और वे अपने स्वदेशी शब्द छोड़ने के लिये तैयार हो जायँगे। हिंदुस्तानीवाले जाकर मुसलमानों के पैर चूमें, हमें ऐसी राष्ट्र-भाषा नहीं चाहिए। यह देश का घोर दुर्भाग्य है कि राष्ट्र-वादी ही सबसे बड़े अराष्ट्र-वादी हो गए हैं, और हमें राष्ट्रीयता का उल्टा पाठ पढ़ा रहे हैं। संसार के देश हमारी हत-बुद्धि पर क्यों न हँसें* ?

गुप्तजी अंत में उपदेश देते हैं कि हमें विवाद में

---

* रोमन-लिपि के बारे पर एक अलग लेख में विचार किया गया है।

समय न बिताकर रचनात्मक काम में लग जाना चाहिए। रचनात्मक काम हमें अवश्य करना चाहिए, लेकिन हिंदुस्तानी की बला से, जो राष्ट्रीयता का जामा पहनकर आई है, इस प्रकार पिंड नहीं छूट सकता। विवाद गांधीजी और हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा का उठाया हुआ है, वे ही इसे समाप्त कर सकते हैं। हिंदी और उर्दू अपने-अपने रास्ते पर चल रही थीं, राष्ट्र का काम भी नहीं रुका था, और एक राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि अपने आप बन रही थी कि गांधीजी को त्रिवेणी खोद-कर प्रकट करने की सूझी, और इसके लिये उन्होंने यही समय सबसे उपयुक्त समझा। उनके लिये कहीं अच्छा होता, यदि वह हिंदी को राजकाज, रेडियो, शिक्षा आदि में अपना उचित स्थान प्राप्त कराने में योग देते, और राष्ट्रीयता के प्रतीक हिंदी पर जो आघात हो रहे हैं, उनका निवारण करने में हमारी सहायता करते। यदि हिंदी और उर्दू दोनों को राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक विभाग में अपना-अपना उचित स्थान दे दिया जाय, तो हिंदी-उर्दू-विवाद समाप्त न हो जाने का कोई कारण नहीं। विवाद तो हिंदुस्तानी - वाद के कारण होता है, जिसकी आड़ में हिंदी का गला काटा जाता है। हिंदीवालों के लिये, जो कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के समय में बिहार, युक्त प्रांत आदि में कांग्रेस की सरकारी और कांग्रेस-नेताओं की निजी 'हिंदुस्तानी'

की बानगी देख चुके थे, और जो उसके बाद सर सुलतान अहमद की 'हिंदुस्तानी' से जल रहे थे, गांधीजी के हिंदुस्तानी आंदोलन ने कटे पर नमक का काम किया। आज तक गांधीजी या किसी और 'हिंदुस्तानी'वाले ने रेडियो की 'हिंदुस्तानी' के नाम से धाँधली के विरोध में एक शब्द नहीं कहा (जब श्रीराजगोपालाचारी उसमानिया-यूनिवर्सिटी के दीक्षांत भाषण में वहाँ की उर्दू को 'हिंदुस्तानी' बतला चुके हैं, तो गांधीजी रेडियो की 'हिंदुस्तानी' को हिंदुस्तानी कहने में कैसे हिचक सकते हैं !)। बंगाल, उड़ीसा, बंबई, गुजरात आदि में उन्नत प्रांतीय भाषाओं के होते हुए जब उर्दू घुसेड़ी जाती है, और उसे प्रांतीय भाषा का स्थान दिया जाता है, लेकिन जनता के माँगने पर भी हिंदी को कोई स्थान नहीं दिया जाता, तब हिंदुस्तानीवाले चुप रहते हैं। जब सिंध, सीमा-प्रांत, पंजाब आदि में उर्दू सबके लिये अनिवार्य विषय बनाई जाती है, और हिंदी-भाषा की कौन कहे, हिंदी-लिपि को भी कोई स्थान नहीं दिया जाता, तब पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी और डॉ० ताराचंद आराम से बैठे रहते हैं। वे केवल युक्त प्रांत, बिहार, मध्य प्रांत आदि के हिंदीवालों को उर्दू पढ़ने की सलाह देना जानते हैं। पंजाब के मुसलमान बालक को सुविधा है कि वह अपनी पढ़ाई केवल उर्दू में करे, लेकिन वहाँ का हिंदू बालक उर्दू पढ़ने और उसी में अपनी

सब पढ़ाई करने के लिये मजबूर है। पर इससे हिंदुस्तानीवालों को कोई मतलब नहीं, वे तो केवल युक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बिहार आदि में हिंदुस्तानी की हुगली बहाना चाहते हैं। यहीं के बच्चों पर आरंभ से हिंदी और उर्दू का बोझ डालना चाहते हैं। फिर सर सुलतान अहमद गांधीजी के हिंदुस्तानी-वाद की दाद देते हैं, क्योंकि इससे उन्हें अपनी वर्तमान नीति को जारी रखने के लिये बल मिलता है। ऐसी अवस्था में हिंदी-वाले चुप नहीं बैठ सकते। गांधीजी के हिंदुस्तानी-वाद से हिंदी के शत्रुओं को तो एक सुनहरा मौक़ा मिलता ही है, हिंदी का अस्तित्व ही खतरे में है। इसका आभास लेख के आरंभ में दिया जा चुका है। दो ही बातें हो सकती हैं—या तो हिंदुस्तानी हिंदी और उर्दू के अतिरिक्त कोई तीसरी चीज होगी और तोनो का स्थान होगा या केवल हिंदुस्तानी होगी और वह हिंदी और उर्दू दोनो का स्थान लेगी। अगर पहली बात है, तो यह निश्चित है कि युक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बिहार आदि में जहाँ हिंदी और उर्दू दोनो चलेंगी (और राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी दूसरी भाषा के रूप में सबके लिये अनिवार्य होगी), कांग्रेस के प्रताप से राजभाषा अथवा प्रांतीय भाषा 'हिंदुस्तानी' बनाई जायगी, लेकिन पंजाब आदि पाकिस्तानी प्रांतों में उर्दू ही राजभाषा रहेगी। सारांश यह

कि हिंदी राजभाषा या प्रांत-भाषा कहीं नहीं होगी, उसे युक्त प्रांत, बिहार आदि में केवल एक साहित्यिक भाषा का स्थान प्राप्त होगा, जैसे संस्कृत, अँगरेजी आदि को। ऐसी अवस्था में हिंदी कालांतर में अपने आप 'हिंदुस्तानी' हो जायगी, उर्दू वैसी ही रहेगी, क्योंकि वह कुछ प्रांतों की प्रांत-भाषा और राजभाषा होगी, और बँगला, गुजराती, तामिल आदि के समान अपना अस्तित्व बनाए रक्खेगी। अगर दूसरी बात है (जैसा पं० सुंदरलाल बतलाते हैं) तो ऐसा कोई माई का लाल नहीं, जो पंजाब आदि पाकिस्तान प्रांतों से उर्दू निकालकर 'हिंदुस्तानी' को प्रतिष्ठित कर दे, बस केवल युक्त-प्रांत, मध्य-प्रांत और बिहार में हिंदी को समाप्त कर उसकी जगह हिंदुस्तानी चलाई जायगी, अर्थात् देश में या उर्दू होगी या 'हिंदुस्तानी'। प्रत्येक अवस्था में 'हिंदी' नहीं रहेगी, पहली अवस्था में अपेक्षाकृत कुछ देर में और दूसरी अवस्था में बहुत शीघ्र हिंदी 'हिंदुस्तानी' हो जायगी। सब हिंदीवाले ठंडे दिल से अपने मन में विचार कर देखें। यदि राष्ट्र-लिपि केवल देवनागरी हुई, जैसा होना बहुत कुछ संभव है (और जितना होने पर टंडनजी भी संतुष्ट हो जायँगे, और उन्हें हिंदी और उर्दू को फ़्यूज़ कर हिंदुस्तानी बनाने में या हिंदी के स्थान में उसे स्वीकार करने में आपत्ति न रह

जायगी), तब तो हिंदी राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं रह सकती, क्योंकि एक लिपि में दो खड़ी बोलियों का रहना कदापि संभव नहीं। जो हिंदीवाले इस भुलावे में हों कि राष्ट्र-भाषा तो राष्ट्र-भाषा होगी, हिंदी तो रहेगी ही, वे भली भाँति समझ लें। एक प्रकार से वर्धा में राष्ट्र-भाषा का या उर्दू का नहीं, वरन् हिंदी का विधान तैयार किया जा रहा है, और अगर इस विधान में आधे संस्कृत के और आधे अरबी-फ़ारसी के शब्द रक्खे गए, तो देश में जहाँ एक ओर बँगला, मराठी, गुज-राती आदि संस्कृत-निष्ठ भाषाएँ होंगी, वहाँ दूसरी ओर अरबी-फ़ारसी-निष्ठ उर्दू होगी, लेकिन 'हिंदी' नहीं होगी। होगी केवल ५०--५० प्रतिशतवाली 'हिंदुस्तानी', जिसमें संस्कृत और देशी शब्दों का घनत्व उर्दू के प्रभाव से प्रति-वर्ष और घटता जायगा। कोई दूसरी बात हो ही नहीं सकती। दो खड़ी बोलियों का एक दूसरे को प्रभावित करना स्वाभाविक है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि आज तो हिंदी और उर्दू बराबर की हैसियत से एक दूसरे को प्रभावित कर रही हैं, लेकिन हिंदुस्तानीवाले हिंदी में कृत्रिम उपायों से अरबी-फ़ारसी के लिये बल-पूर्वक दरवाज़ा खोलकर उन्हें हिंदी में यथेष्ट मात्रा में खपाकर और हिंदी-प्रांतों में हिंदी हटा 'हिंदुस्तानी' लादकर हिंदी को उर्दू की ओर एक प्रबल धक्का देना चाहते हैं, और

राष्ट्र-भाषा का स्थान हिंदी से छीनकर इसी 'हिंदुस्तानी' को देना चाहते हैं ❀ ।

कुछ लोग कहेंगे कि ये सब आशंकाएँ निर्मूल हैं, भाषा किसी व्यक्ति-विशेष या बोर्ड के बनाए नहीं बनती, और न भाषा या शैली किसी व्यक्ति के चलाने से चलती है, वह तो समाज की संपत्ति है। यह सब ठीक है, लेकिन यह समझना भूल होगी कि रेडियो, सिनेमा और प्रेस के इस आधुनिक युग में समाज की भाषा पर मनोवांछित दिशा में गहरा प्रभाव नहीं डाला जा सकता। भाषा अवश्य नहीं बनाई जा सकती, लेकिन उसकी शैली परिमार्जित या विकृत की जा सकती है। कुछ लोग कहेंगे कि गांधीजी आपको नहीं रोकते, आप पर कोई भाषा नहीं लादते, आप अपने रास्ते पर चलिए, उन्हें अपने रास्ते पर चलने दीजिए। लेकिन बात ऐसी नहीं है। यदि ऐसा होता, तो हमें चिंता करने की कोई आवश्यकता न होती, सबकी स्थिति एक-सी होती और समाज अपने आप निर्णय कर देता कि हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू-शैलियाँ कहाँ तक चलेंगी, और उनका क्या स्थान होगा। गांधीजी साधारण व्यक्ति नहीं हैं। उनके असाधारण व्यक्तित्व के प्रभाव को यदि छोड़ भी दिया जाय, तो उनके पीछे कांग्रेस की महान् शक्ति है। यदि

❀पुस्तक के प्रथम भाग के अंत में जो प्रश्न उठाए गए हैं, उनका महत्त्व इस विवेचन से भली भाँति प्रकट है।

सरकारी आज्ञा से (अर्थात् राष्ट्रीय सरकार के समय में कांग्रेस की आज्ञा से) रेडियो और सिनेमा की भाषा गांधी-जी के बनाए 'हिंदुस्तानी-कोष' की भाषा कर दी जाती है, इसी भाषा और देवनागरी के साथ-साथ उर्दू-लिपि में कांग्रेस के अखबार छपते हैं और केंद्रीय सरकार का काम होता है, यही भाषा और देवनागरी के साथ-साथ उर्दू-लिपि हिंदी-प्रांतों की राजभाषा बनाई जाती है, इसी में हिंदी-प्रांतों में शिक्षा दी जाती है, और सरकारी स्कूलों तथा कॉलेजों की पाठ्य पुस्तकें छपती हैं, इसी भाषा में कांग्रेसी नेता अपने सार्वजनिक भाषण देते हैं, और इसी भाषा और दोनो लिपियों को श्रीसत्यनारायण-जैसे राष्ट्र-भाषा के भक्त अहिंदी प्रांतों में, विशेष कर दक्षिण में, प्रचारित करते हैं, तो ऐसी स्थिति में यह कहना कि जनता या समाज की भाषा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, काहिलों का प्रलाप नहीं तो क्या है ? जनता की भाषा चाहे बिलकुल 'हिंदुस्तानी' न हो जाय, लेकिन उस ओर मुड़ अवश्य जायगी। जनता की भाषा में सैकड़ों अरबी-फ़ारसी के और सैकड़ों अँगरेज़ी के शब्द जिन परि-स्थितियों में घुस आए हैं, और जिन परिस्थितियों में दिल्ली और लखनऊ की बोलचाल की भाषा और 'बाज़ू हिंदुस्तानी' बनी हैं, वे ही परिस्थितियाँ जनता की भाषा पर हिंदुस्तानी का सिक्का जमाएँगी। हमें अपने शब्द प्रचलित करने का मौक़ा दिया ही नहीं जायगा। जैसे आजकल अँगरेज़ी के साम्राज्य

में एक देहाती भी फ़ौज में भर्ती होकर सैकड़ों अँगरेज़ी के शब्द सीख आता है (देशी पर्यायों को कौन प्रचलित करे ?), और फिर वे शब्द किसी के निकाले नहीं निकल सकते, उसी प्रकार 'हिंदुस्तानी' के साम्राज्य में देहाती सैकड़ों-हज़ारों अरबी-फ़ारसी के शब्द सीख लेगा, जिनके हिंदी पर्यायों को प्रचलित होने का मौक़ा ही नहीं मिलेगा। भाषा अंत में वही रहेगी, जो जनता की बोली जानेवाली भाषा होगी। जनता द्वारा बोली जान वाली भाषा के परिवर्तित होने पर लिखित हिंदी का भी उसी दिशा में परिवर्तित होना अनिवार्य है। जनता की बोलचाल की भाषा, ख़ासकर इस निरक्षर देश में जिसके ६० प्रतिशत निवासियों की भाषा में एक हज़ार शब्द भी नहीं हैं, अर्थात् जिनकी बोलचाल की भाषा में से एक प्रकार के शब्दों को निकालकर दूसरे प्रकार के शब्दों को घुसेड़ने का परिश्रम भी नहीं करना है—केवल नए शब्दों को जोड़ना है, शिक्षा के प्रसार और देश के उन्नत होने पर (अर्थात् जब देहातों में भी आधुनिक सभ्यता और शिक्षा का प्रकाश फैलेगा) वही होगी, जो शिक्षा का माध्यम होगी, और जिसे सरकारी दफ़्तर, सरकारी सूचनाएँ, सरकारी अफ़सर, कचहरियाँ, जजों के फ़ैसले, कांग्रेस-नेताओं के भाषण, रेडियो और सिनेमा प्रचारित करेंगे। इस प्रकार रेडियो, सिनेमा, प्रेस आदि आधुनिक साधनों द्वारा और राज्याश्रय देकर कोई भी कृत्रिम-से-कृत्रिम भाषा या शैली

प्रचारित की जा सकती है। यदि ऐसा न होता, तो रेडियो की वर्तमान भाषा-नीति का विरोध करने की भी आवश्यकता न होती। जब रेडियो जनता को 'हिंदुस्तानी' शब्द सुना-सुनाकर उन्हें प्रचलित कर देगा, तब हमारे घर में बैठकर हिंदी में हिंदी के मृत शब्दों को लिखने से क्या होगा? सुने हुए शब्द का प्रभाव लिखित शब्द की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। जब 'आशार्या' और 'स्यासी' जनता की कथित भाषा में प्रचलित हो गए, तो आप 'दशमलव' और 'राजनीतिक' बका करें या लिखा करें, आप अपने भाषणों में 'दशमलव' और 'राजनीतिक' आने पर लोगों को स्वयं 'यानी आशार्या' और 'यानी स्यासी' समझाते दिखाई देंगे। अगली पीढ़ी के लेखक 'दशमलव', 'राजनीतिक'-जैसे मृत शब्दों को क़तई छोड़ देंगे। यह है रेडियो की नीति का परिणाम, जो आज प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, और यही परिणाम कल गांधीजी की 'हिंदुस्तानी' के साम्राज्य में होगा। नए शब्दों की कौन कहे, हमारे सैकड़ों पुराने और प्रचलित शब्द हमसे सदा के लिये छूट जायँगे। अगर गांधीजी की हिंदुस्तानी को कांग्रेस ने और कांग्रेस-नेताओं ने सरकारी भाषा अथवा कांग्रेस की भाषा के रूप में नहीं भी अपनाया (जैसा होने की संभावना नहीं के बराबर है) तो भी गांधीजी की हिंदुस्तानी और वर्धा के हिंदुस्तानी-कोष का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ेगा, और उससे केवल हिंदी को हानि होगी। हमारी वर्तमान

सरकार और हिंदी के शत्रु भी उससे पूरा लाभ उठाएँगे। सर सुलतान अहमद ने गांधीजी के हिंदुस्तानी-वाद की इसीलिये दाद दी है—पंजाब, सीमा-प्रांत आदि के स्टेशनों लाहौर, पेशावर आदि—से उर्दू, क्योंकि वहाँ की प्रांतीय भाषा उर्दू है, और दिल्ली तथा हिंदी-प्रांतों के स्टेशनों से 'हिंदुस्तानी', क्योंकि वह गांधीजी की आशीर्वाद-प्राप्त राष्ट्र-भाषा तथा 'आमफहम' हिंदी-उर्दू वालों दोनो की समझ में आने वाली हिंदी-प्रांतों की उपयुक्त राजभाषा है। फिर 'हिंदुस्तानी' नाम की आड़ में वह चाहे जो कुछ करें—गांधीजी का समर्थन प्राप्त है ही, कांग्रेसवाले 'हिंदुस्तानी' नाम के रहते मुसलमानों के डर से कुछ कह नहीं सकते और पंडित सुंदरलाल -जैसे व्यक्ति 'हिंदुस्तानी' की आड़ को हटने नहीं दे सकते। यह सब हम आज प्रत्यक्ष देख रहे हैं, और हमारी आँखें खुल चुकी हैं। जो लोग आज हमें यह उपदेश देते हैं कि गांधीजी के हिंदुस्तानी आंदोलन की चिंता करने की आवश्यकता नहीं, वे हमें मौत की नींद सुलाना चाहते हैं, वे ही हिंदी के शत्रु हैं। अगर गांधीजी का उद्देश्य एक नई भाषा बनाना नहीं है और अगर वह जैसा कि वह कहते हैं हिंदी-उर्दू को दबाना या हानि पहुँचाना नहीं वरन् हिंदुस्तानी अर्थात् हिंदी और उर्दू दोनो की सेवा करना चाहते हैं, तो 'हिंदुस्तानी' लेक्सिकन को क्यों बनाया जा रहा है, इसीकी क्या जरूरत है? क्या हिंदी और उर्दू के अपने

अपने लेक्सिकन नहीं मौजूद हैं? इस समय हिंदी का अस्तित्व ही खतरे में है। इस समय इस हिंदुस्तानी आंदोलन का अपने समस्त बल से विरोध करना हिंदी-संसार के लिये परमावश्यक है। हमें उर्दू से कोई भय नहीं, लेकिन यह 'हिंदुस्तानी' हिंदी की और केवल हिंदी की जड़ खोदकर रहेगी, यह निश्चित है। जब घर में आग लगी हो, तो निर्माण नहीं हो सकता। जब भाषा का अस्तित्व ही खतरे में हो, तब साहित्य की रचना नहीं हो सकती। हम हिंदी का रचनात्मक काम करें, तो किस भविष्य की कल्पना कर? गुप्तजी कचहरियों में हिंदी का प्रवेश कराने की सलाह देते हैं, लेकिन क्या उन्हें मालूम है कि पं० सुंदरलाल ऐसा नहीं चाहते। वह कहते हैं, अदालती शब्द एक ही हों, जो सबकी समझ में आते हों, अर्थात् वर्तमान अरबी-फ़ारसी के शब्द ही बने रहें, बस केवल हिंदी-लिपि और मान्य हो जाय। जब पं० सुंदरलाल की नीति ही गांधीजी के ज़रिए हमारी भावी सरकार की नीति होने जा रही हो, तो हम कैसे चुप होकर बैठ जायँ? हम तो अब यह कहेंगे कि बस, बहुत हो चुका। इस 'हिंदुस्तानी' के कारण हिंदी बहुत हानि सह चुकी। हमें इस 'हिंदुस्तानी' शब्द से ही घृणा हो गई है, जिसकी आड़ में रेडियो-ऐसी शरारतें होती हैं, और आगे भी सदैव हो सकती हैं, और होंगी*। 'हिंदुस्तानी' शब्द

---

* जहाँ तक कांग्रेस का संबंध है, वहाँ तक (यदि कांग्रेस

उर्दू का प्राचीन पर्याय है, और उस शब्द का वातावरण बन चुका है, जिस कारण भारत की राष्ट्र-भाषा का नाम 'हिंदुस्तानी' नहीं हो सकता। आज 'हिंदुस्तानी' शब्द भाषा-विषयक अनिश्चितता का मूर्तिमान् प्रतीक है। हिंदी नाम प्राचीन है, इस शब्द की ध्वनि और वातावरण हमको प्रिय हैं। यह नाम मुसलमानों का ही दिया हुआ है, खड़ी बोली हिंदी की ही एक बोली है, जो 'सूबा हिंद' में बोली जाती है, उर्दू तो बाबू हिंदुस्तानी' की भाँति हिंदी की केवल एक विकृत शैली है, इसलिये राष्ट्र-भाषा का नाम 'हिंदी' ही हो सकता है। अगर इस नाम में मुसलमानों को सांप्रदायिकता की गंध आती है, तो इसके लिये हम दोषी नहीं।

हिंदी को राष्ट्र-भाषा क़रार देने का साहस नहीं कर सकती)
'हिंदुस्तानी' से छुटकारा पाने के लिये या तो, जैसा पं० बालकृष्ण शर्मा ने सुझाया है (अमृत बाज़ार पत्रिका, इलाहाबाद, ११ एप्रिल, ४९), कांग्रेस के विधान से 'हिंदुस्तानी' शब्द बिलकुल निकाल दिया जाय, और उसके स्थान में 'कामन भाषा' लिखा जाय, जिसका अर्थ होगा अवसर के अनुसार वह भाषा जिसे कोई वक्ता या लेखक 'कामन भाषा' समझता है; या जैसा कि टंडनजी ने अपने एक वक्तव्य (अमृत बाज़ार पत्रिका, इलाहाबाद, २९ मई, ४९) में 'हिंदुस्तानी' शब्द से वास्तविक अभिप्राय पर प्रकाश डाला है, 'हिंदुस्तानी' के आगे साफ़-साफ़ लिख दिया जाय "अर्थात् हिंदी या उर्दू।"

हम उनके कहने से भारत के 'हिंदुस्तान' नाम को इसलिये नहीं बदल सकते कि उसमें हिंदू शब्द वर्तमान है। अब समय आ गया है कि इस झगड़े का सदा के लिये निबटारा हो जाय। सम्मेलन अब केवल यही न कहे कि जब तक सम्मेलन हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा की बनाई 'हिंदुस्तानी' को नहीं मान लेता, तब तक हिंदी को ही राष्ट्र-भाषा मानेगा (जैसा गत युक्त प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर स्वीकृत प्रस्ताव में कहा गया है), बल्कि यह कहे कि वह हिंदी को राष्ट्र-भाषा के उपयुक्त बनाने के लिये हिंदी में किसी प्रकार के शाब्दिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं देखता, किसी प्रकार की हिंदुस्तानी या 'हिंदुस्तानी' नाम की जरूरत नहीं समझता। वह इस हिंदुस्तानी-प्रचार को हिंदी के स्वाभाविक प्रसार में बाधक समझता है, और 'हिंदुस्तानी' को हिंदी का जानी दुश्मन। इसलिये वह न सिर्फ इससे कोई संबंध न रक्खेगा और सहयोग न करेगा, वरन् भरपूर विरोध करेगा। सम्मेलन और हिंदी-संसार का एक ही नारा है—'हिंदी हमारी राष्ट्र-भाषा है, और लिपि देवनागरी'। जो इस नारे से असह-मत हैं, या हिंदुस्तानी चाहते हैं, वे अलग हो जायँ, मित्रों और अमित्रों की पहचान हो जाय।

यदि हम हिंदुस्तानी के विरोध में असफल रहते हैं, और वर्धा की हिंदुस्तानी या कोई और हिंदुस्तानी हमारे

ऊपर राजबल से लादी जाती है, तो हमें कम-से-कम निम्न-लिखित बातें अवश्य स्पष्ट कर देनी चाहिए—

(१) 'हिंदुस्तानी' राष्ट्र-भाषा हो सकती है, परंतु वह हिंदी-प्रांतों की भाषा नहीं है। 'हिंदुस्तानी' हिंदी का स्थान नहीं ले सकती और न 'हिंदी' को हटा सकती है। संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बिहार और राजस्थान की प्रांत-भाषा हिंदी होगी, और इन प्रांतों में हिंदी का वही स्थान होगा, जो बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिण प्रांतों में बँगला, मराठी, गुजराती, तामिल, तैलगू आदि का है, अर्थात् संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बिहार और राजस्थान की राज-भाषा हिंदी होगी, और इन प्रांतों में सरकारी संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम हिंदी होगा, लेकिन विद्यार्थियों को उर्दू साहित्य लेने की स्वतंत्रता होगी (अधिक-से-अधिक यह हो सकता है कि उर्दू चाहनेवालों के लिये उर्दू के माध्यम से शिक्षा देने के लिय अलग शिक्षा-संस्थाएँ खोल दी जायँ, लेकिन उनके लिये हिंदी-भाषा का विषय अनिवार्य होगा। उर्दू चाहने वालों के लिये इतनी सुविधा भी तभी दी जा सकेगी, जब उर्दू-प्रधान प्रांतों में जैसे पंजाब, काश्मीर, हैदराबाद आदि में हिंदी चाहनेवालों को वही सुविधा दी जाय)। इन प्रांतों में राष्ट्र-भाषा 'हिंदुस्तानी' का शिक्षा-क्रम आदि में वही स्थान होगा, जो बंगाल, मदरास आदि अन्य प्रांतों में।

(२) केंद्रीय संस्थाओं और केंद्रीय सरकार के विभागों

में हिंदी को वही स्थान दिया जायगा, जो भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं को। उदाहरण के लिये रेडियो के अखिल भारतीय प्रोग्राम 'हिंदुस्तानी' में हो सकते हैं, लेकिन सब प्रकार के प्रोग्राम उचित अनुपात में अन्य प्रांतीय भाषाओं की भाँति हिंदी में भी होंगे। मिसाल के लिये अँगरेज़ी की भाँति हिंदुस्तानी में समस्त भारत के लिये समाचार ब्रॉडकास्ट हो सकते हैं, लेकिन बँगला, मराठी, गुजराती, तामिल आदि अन्य प्रांतीय भाषाओं की भाँति हिंदी में भी समाचार अलग से ब्रॉडकास्ट होंगे।

(३) हिंदुस्तानी को तभी लादा जाय, जब भारत के सब प्रांत उसे राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लें। यह नहीं हो सकता कि पंजाब तो 'हिंदुस्तानी' (और दोनो लिपियों) को शिक्षा-क्रम आदि में स्थान न दे, लेकिन युक्त प्रांत, बिहार आदि में कांग्रेस उसे प्रतिष्ठित कर दे। राष्ट्र-भाषा का अर्थ है समूच राष्ट्र की भाषा। यदि राष्ट्र के 'पाकिस्तानी प्रांत' हिंदुस्तानी को स्वीकार नहीं करते, तो हिंदुस्तानी बनाना ही व्यर्थ हुआ। यदि केवल 'हिंदुस्तानी प्रांतों' की बात होती, तो हिंदी की कौन कहे, सरल संस्कृत (जैसा कुछ विद्वानों ने सुझाया है) राष्ट्र-भाषा बनाई जाती।

(४) हिंदी-प्रांतों में हिंदीवालों के लिये उर्दू अनिवार्य विषय न हो*।

---

* देखिए प्रथम भाग का अंतिम अंश।

- कुछ लोग शायद यह कहेंगे कि ऊपर की बातों को प्राप्त करने में क्या रुकावट है, इनमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है, बहुत कुछ ऐसा है ही। यहाँ उनको उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। यह पूरा लेख ही उत्तर है। यहाँ एक उदाहरण देना असंगत न होगा। रेडियो में केवल 'हिंदुस्तानी' है, हिंदी का कभी नाम तक नहीं लिया जाता। अन्य प्रांतीय भाषाओं का अपना-अपना स्थान है, लेकिन हिंदी नदारद है। रेडियोवाले वही तर्क देते हैं, जो हिंदुस्तानी-वाले। वे कहते हैं, हिंदी और उर्दू तो लिखी जाती हैं, लेकिन बोलचाल की 'आमफ़हम' और हिंदी उर्दू वालों दोनो की समझ में आनेवाली भाषा 'हिंदुस्तानी' है, इसलिये वे न उर्दू में प्रोग्राम करते हैं और न हिंदी में, बस केवल 'हिंदुस्तानी' में। कांग्रेसवाले इस तर्क का क्या उत्तर दें? वे किस मुँह से कहें कि 'हिंदुस्तानी' नाम की ऐसी कोई भाषा नहीं है? (उनके विधान में ही 'हिंदुस्तानी' धरी हुई है, और फिर गांधीजी भी तो कहते हैं—"देहाती जबान तो एक ही चीज़ है," उनके हिंदुस्तानी आंदोलन का आधार ही यही है) इसलिये कांग्रेसवाले चुप रहते हैं। हिंदी का गला कटता है, तो कटा करे। अगर वे असेंबली में भाई परमानंद के प्रस्ताव पेश करने पर कहीं उस प्रस्ताव के पक्ष में बोल उठें (स्वयं प्रस्ताव पेश करना तो उनके लिये असंभव है), तो कल ही से मुसलमान न कहने लगें कि

देखो, शेर की खाल उतार फेकी, आ गए अपनी असलियत पर, कहाँ गई इनकी राष्ट्रीयता ! और-तो-और, जब श्रीसंपूर्णानंद सम्मेलन के प्रतिनिधि बनकर सर सुलतान अहमद की बुलाई हुई रेडियो-कॉन्फ्रेंस में जाते हैं, तो अपने मुँह से कहते हैं कि समाचारों की भाषा एक ही हो, लेकिन वह भाषा ऐसी हो, वैसी हो। कांग्रेस में रहते उनके लिये कोई दूसरी बात कहना संभव नहीं। उनकी राय में भी न उर्दू में समाचार हों, न हिंदी में—बँगला, मराठी आदि प्रांतीय भाषाओं में हों और 'हिंदुस्तानी' में। टंडनजी भी रेडियो की 'हिंदुस्तानी' में केवल सुधार चाहते हैं, हिंदी को हिंदी कहकर उसका पृथक् स्थान माँगने से उनको मतलब नहीं। कोई यह पूछने का साहस नहीं करता कि 'हिंदुस्तानी' जो है सो है, यह 'हिंदी', जिसे लाखों पढ़ते और लिखते हैं, और जिसमें सैकड़ों अखबार और पुस्तकें छपती हैं, कहाँ है *? परिणाम यह है कि न राष्ट्र-भाषा हिंदी है और न

---

* यदि सम्मेलन के प्रतिनिधि कहते कि इस हिंदी में, जिसे लाखों पढ़ते और समझते हैं, और जिसमें सैंकड़ों पुस्तकें और समाचार-पत्र प्रकाशित होते हैं, सब प्रकार के प्रोग्राम उचित अनुपात में बँगला, तामिल इत्यादि की भाँति अवश्य हों, इसके अलावा चाहे जिस भाषा या भाषाओं में प्रोग्राम हों, तो इसका विरोध उर्दूवाले भी किस प्रकार कर सकते थे ? उर्दूवालों के लिये उर्दू में अलग से प्रोग्राम अपने आप होते। यह आशा

प्रादेशिक भाषा हिंदी। इस परिस्थिति का पूरा उत्तरदायित्व कांग्रेस, कांग्रेसवालों और हिंदुस्तानीवालों पर है। उन्होंने स्वयं अपने राज्य में हिंदी और उर्दू के स्थान में केवल 'हिंदुस्तानी' से काम लिया था। हम इनसे कैसे आशा करें कि शासन-सूत्र पाने पर ये हिंदी को (या हिंदी-उर्दू दोनो का) प्रांत-भाषा होने देंगे? संपूर्णानंदजी और टंडनजी-जैसे हिंदी के समर्थकों को हम देख चुके, अब पं० सुंदरलाल को सुनिए। वह फ़रमाते हैं, रेडियो में हिंदी के पृथक् स्थान की माँग 'अराष्ट्रीय' है और कहते हैं कि हिंदी में अलग से समाचारों की माँग करना 'टू नेशन थ्योरी विद ए वेन्जियेन्स' (Two Nation Theory with a véngeance) है, कुछ शब्दों को बदलने के लिये कहना और बात है। ऐसे हैं कांग्रेसवालों और हिंदुस्तानीवालों के विचार! इनके हाथ में शासन की बागडोर आने पर हिंदी प्रांत-भाषा ही रहेगी या नहीं, और उसे कम-से-कम अन्य प्रांतीय

करना ही व्यर्थ था कि जिस प्रकार की 'एक भाषा' में सम्मेलन के प्रतिनिधि समाचार चाहते थे, वह उर्दूवालों के लिये भी उपयुक्त होगी, और उसका उर्दूवाले विरोध न करेंगे। इस विरोध से सर सुलतान अहमद ने लाभ उठाया। यदि बिना किसी दूसरे झगड़े में पड़े उचित अनुपात में हिंदी के पृथक् प्रोग्रामों की माँग की जाती, तो इसका विरोध उर्दूवाले किसी प्रकार न कर पाते, और सर सुलतान के पास कोई तर्क बाकी न रह जाता।

भाषाओं के समान अधिकार मिलेंगे या नहीं, इस पर हिंदी-वाले विचार कर लें। इतना निश्चित है कि अगर 'हिंदुस्तानी' और राष्ट्र-भाषा के घपले में पड़कर हिंदी को प्रांत-भाषा का भी पद न मिला, तो इस दुनिया से 'हिंदी' उठ जायगी। और, यह भी निश्चित है कि अगर हिंदी केवल प्रांत-भाषा ही हुई, तो उसकी धारा अक्षुण्ण बहती रहेगी, और जब देश के सामने हिंदी और 'हिंदुस्तानी' दोनो आती रहेंगी, तो देश को मालूम होता रहेगा कि वास्तविक राष्ट्र-भाषा कौन-सी है, और कालांतर में 'हिंदुस्तानी' को निकालकर राष्ट्र-भाषा का अपना स्वाभाविक पद ग्रहण करने से हिंदी को कोई राजशक्ति न रोक सकेगी।

टंडनजी का समन्वयवाद

श्रद्धेय श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन ने हिंदी को राष्ट्र-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने के लिये जो प्रयत्न किया है, वह किसी से छिपा नहीं है। हिंदी को राष्ट्र-भाषा माननेवालों के वह नेता हैं। पर अभी हाल में (२५ मई, १६४५) हिंदी, उर्दू तथा हिंदुस्तानी के विषय में उनका जो वक्तव्य निकला है, उसके कुछ अंशों को पढ़कर असमंजस में पड़ जाना पड़ता है। वक्तव्य की कुछ बातें टंडनजी के पिछले अवसरों पर प्रकट किए हुए विचारों से मेल भी नहीं खातीं। इस वक्तव्य को पढ़कर कुछ ऐसा भास होता है कि मुसलमानों और उर्दूवालों की कटु आलोचना का टंडनजी पर बहुत प्रभाव पड़ा है। इसमें उन्होंने हिंदुस्तानीवालों की हाँ में हाँ मिलाते हुए हिंदी और उर्दू को कृत्रिम उपायों से मिलाने की बात पर जोर दिया है। इस वक्तव्य से यह ध्वनि निकलती है कि टंडनजी ने अपना नारा—"हिंदी ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है"—बदल दिया है, और अब वह हिंदी और उर्दू को 'फ्यूज़' करके राष्ट्र-भाषा का निर्माण करने का स्वप्न देखने लगे हैं। टंडनजी हिंदी-भाषा-भाषियों का नेतृत्व कर रहे हैं, राष्ट्र-भाषा हिंदी की बागडोर उनके हाथ में है,

इसलिये टंडनजी के समन्वयवाद से हिंदी-संसार का चिंतित होना स्वाभाविक है।

वक्तव्य को पढ़कर यह समझ में नहीं आता कि हिंदी और उर्दू को मिलाने की क्या आवश्यकता है। टंडनजी ने स्वयं कहा है कि हिंदी का इस देश की मिट्टी से सदैव संबंध रहा है, उसकी धारा और परंपरा प्राचीन है, और आधुनिक हिंदी ही हिंदी का वास्तविक देशज स्वरूप है, और उर्दू-शैली हिंदी पर अत्यधिक विदेशी प्रभाव पड़ने से बनी है। फिर हिंदी उर्दू को मिलाना कैसे संभव है, और उसकी क्या आवश्यकता पड़ गई ? हिंदी में ऐसी कौन-सी त्रुटि है, जिसे राष्ट्र-भाषा बनाने के लिये उसमें उर्दू मिलाकर दूर किया जाय ? इस मिलाने की बात से तो यह मालूम पड़ता है कि अभी ऐसी कोई एक भाषा नहीं है, जो अँगरेजी का स्थान ले सके (क्योंकि हिंदी और उर्दू एक ही चीज नहीं हैं, और दोनो को राष्ट्र-भाषा मानने से या टंडनजी के यह कहने से कि अँगरेजी के स्थान में हिंदी या उर्दू जिसमें जिसकी मर्जी आवे काम किया जाय, समस्या हल नहीं होती), और टंडनजी की भी राय में हिंदी, उर्दू के विद्वान् मिलकर बैठें, और हिंदी, उर्दू का 'एक्सेप्टेबिल फ्यूजन' करके एक नई तीसरी शैली निकालें, जो अँगरेजी का स्थान ले। कब यह तीसरी शैली निकली, कब वह मान्य हुई, कब वह प्रचलित हुई, और कब उसने अँगरेजी को निकाला, अथवा निकालने में

समर्थ हुई! टंडनजी तो उससे भी आगे बढ़कर भारतीय लिपियों में से एक राष्ट्र-लिपि को भी 'इवाल्व' करने की बात करने लगे। टंडनजो पुरानी 'ट्रैडिशंस' को छोड़ने की बात करने लगे, लेकिन विना 'ट्रैडिशन' की एक नई अनगढ़, कृत्रिम, परंपरा और साहित्य-हीन भाषा, जो किसी प्रदेश की मातृभाषा या प्रांत-भाषा नहीं है, और जिसका—साहित्य की कौन कहे—अभी तक कोई निश्चित स्वरूप ही नहीं, अँगरेजी को कभी निकाल सकेगी या भारत-जैसे राष्ट्र का कार्य संपादन कर सकेगी? किस राष्ट्र ने अपनी प्राचीन भाषा-परंपरा का इस प्रकार परित्याग किया है? खेद है, 'हिंदुस्तानी' और तज्जनित सांप्रदायिकता की लपेट में सम्मेलन के कर्णधार भी आने लगे। इससे राष्ट्र-भाषा की समस्या का हल और दूर होता जायगा और गुत्थी उलझती जायगी। हम यह तो भूल ही जाते हैं कि भाषाएँ बनाई नहीं जातीं और एक ऐसी भाषा ही, जिसकी जड़ें गहरी हैं, जिसकी प्राचीन परंपरा है, जिसका अपना प्राचीन साहित्य है, और जिसका स्वरूप निश्चित है, अँगरेजी का स्थान ले सकती है। ऐसा नहीं हो सकता कि हिंदी-उर्दू के विद्वान् एक फतवा दे दें, और हिंदी-उर्दू समाप्त होकर एक नई शैली चलने लगे (और अँग-रेजी-जैसी भाषा का स्थान ग्रहण कर ले!)। यदि चलने भी लगे, तो जब तक नहीं चलती है, तब तक क्या किया

जाय ? तब तक क्या अँगरेज़ी का पल्ला पकड़े बैठे रहें ? (उर्दू को शामिल करके हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने की बात एक बेकार बात है) हिंदी को ही राष्ट्र-भाषा मानने में क्या आपत्ति है ?

टंडनजी कहते हैं, संस्कृत और फ़ारसी आर्य-परिवार की भाषाएँ हैं और राष्ट्र-भाषा के निमित्त उनका एक सुंदर समन्वय हो सकता है। ऐसा समन्वय करने के तीन ही कारण हो सकते हैं—(१) चूँकि संस्कृत और फ़ारसी आर्य-परिवार की भाषाएँ हैं, इसलिये समन्वय होना चाहिए। यदि ऐसा है, तो अँगरेज़ी, जर्मन, ग्रीक और लैटिन भी आर्य-भाषाएँ हैं, उनका भी समन्वय होना चाहिए। फिर अँगरेज़ी से द्रोह भी क्यों ? सभी आवश्यक शब्द अँगरेज़ी से ले लिए जायँ, बड़ा सुबीता रहेगा, और समस्या मज़े में हल हो जायगी। यदि अँगरेज़ी विदेशी है, तो फ़ारसी भी विदेशी है। भारत में इस समय अँगरेज़ी का वह प्रभुत्व है, जो फ़ारसी का कभी नहीं हुआ, और अँगरेज़ी के मेल से 'बाबू हिंदुस्तानी' बनकर ऐसी प्रचलित हो गई है कि उर्दू कभी नहीं थी, और हिंदी पर अँगरेज़ी का इतना प्रभाव पड़ा है, जितना फ़ारसी का कभी नहीं पड़ा। फिर फ़ारसी का संस्कृत से निकट संबंध है, हिंदी से नहीं। हिंदी के सबसे निकट पंजाबी, गुजराती, मराठी और बँगला हैं, इसलिये सबसे पहले इनका समन्वय क्यों नहीं होना चाहिए ? इनके बाद संस्कृत और प्राकृत का

नंबर आता है, और फिर भी यदि काम न चले, तब कहीं फ़ारसी की ओर देखा जा सकता है। जो विदेशी शब्द हिंदी में बहु-प्रचलित हैं, उन्हें नहीं निकाला जा सकता। लेकिन यदि उनके प्राचीन देशी पर्याय मौजूद हैं, और हिंदी में प्रचलित हैं, तो उन्हें भी स्थान देना पड़ेगा। अर्थात् जो देशी शब्द हिंदी में इस समय भी मौजूद हैं, उनमें से कोई शब्द भी किसी भी समन्वय की हालत में नहीं निकाला जा सकता। (२) मुसलमानों को ख़ुश करने के लिये ऐसा किया जाय। तब तो राष्ट्र-भाषा बन चुकी। फिर भी यदि यही अभिप्राय है, तो साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहा जाता? 'फ़ारसी आर्य-भाषा है' आदि लच्छेदार बातों को कहने की क्या आवश्यकता है? फिर अरबी-शब्दों का ही बहिष्कार कैसे कर सकते हैं? उन्हें प्रसन्न करने के लिये क्या अरबी का भी समन्वय करना आवश्यक न होगा? (३) जो शब्द भारतीय भांडार में हैं ही नहीं, उन्हें फ़ारसी से ले लिया जाय। अगर 'को अलीस' से यही मतलब है, तो ठीक है, लेकिन प्रथम ज़रा साफ़-साफ़ कहने की आवश्यकता है, और द्वितीय, फ़ारसी के समकक्ष अँगरेज़ी आदि अन्य आर्य-भाषाओं को भी रखना पड़ेगा।

यह भी याद रखना चाहिए कि भारत में केवल आर्य नहीं बसते। यदि भारत की राष्ट्र-भाषा के निर्माण में आर्य और अनार्य की भित्ति पर कुछ किया गया, तो द्राविड़ों का विरोध करना अवश्यंभावी है। उन्हें ख़ुश करने के लिये

संस्कृत, फ़ारसी के साथ-साथ तामिल, तलगू आदि का भी समन्वय करना पड़ेगा। यह दलील कि हिंदी आर्य-भाषा है, और उसका समन्वय केवल आर्य-भाषाओं से हो सकता है, नहीं चलेगी, क्योंकि अनार्य फिर उसे स्वीकार ही क्यों करें ? यदि विना किसी आवश्यकता के होते हुए केवल मुसलमानों को खुश करने के लिये हिंदी में जान-बूझकर फ़ारसी का पुट दिया जा सकता है, तो जिस राष्ट्र के लिये राष्ट्र-भाषा बनाई जा रही है, उसके द्राविड़-निवासियों की तामिल, तैलगू भी मिलाई जा सकती हैं। बस, इसी प्रकार अनंत काल तक संसार-भर की भाषाओं का हिंदी के साथ समन्वय करते रहें ! राष्ट्रीयता के धरातल से हटते ही इन बातों का उठ खड़ा होना अनिवार्य है। आश्चर्य तो इस बात का है कि जहाँ टंडनजी ने संस्कृत और फ़ारसी को 'को अलीस' करने की बात कही है, उसके ज़रा पहले ही वह फ़ारसी को विदेशी ठहरा चुके हैं। तब क्या फ़ारसी आर्य-भाषा नहीं थी, या फ़ारसी-भाषा तो विदेशी और अग्राह्य है. लेकिन फ़ारसी के अनावश्यक शब्द देशी और ग्राह्य हैं ? कुछ समय हुआ, अखबारों में यह छपा था कि गांधीजी के हिंदुस्तानी-प्रचार की चर्चा करते हुए टंडनजी ने कहा कि वह हिंदीवालों को हिंदी में ज़बरदस्ती और जान-बूझकर विदेशी शब्द भरने की सलाह नहीं दे सकते। तो क्या अब टंडनजी का मत बदल गया है, या उनके 'देश' की परिभाषा में फ़ारस भी शामिल है ?

यह स्पष्ट है कि इस नाज़ुक समय में, जब हिंदी पर चारो ओर से आघात हो रहे हैं, और उसके स्वरूप को ही भ्रष्ट करने के लिये एक व्यापक षड्यंत्र रचा जा रहा है, हिंदी-वालों का समन्वयवाद हिंदी के लिये घातक सिद्ध होगा। हमारा दृढ़ मत यह होना चाहिए कि उर्दू से हमारा कोई विरोध नहीं, अन्य प्रांतीय भाषाओं की भाँति वह भी एक भाषा अथवा शैली है, परंतु हमारी राष्ट्र-भाषा हिंदी है। ज़रूरत इस बात की है कि सम्मेलन, जो हिंदी-संसार का प्रतिनिधित्व करता है, स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा करे कि वह हिंदी को राष्ट्र-भाषा के उपयुक्त बनाने के लिये हिंदी में किसी प्रकार के शाब्दिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं देखता, किसी प्रकार की 'हिंदुस्तानी' अथवा हिंदी-उर्दू के 'फ़्यूज़न' की ज़रूरत नहीं समझता। यदि सम्मेलन ही मुसलमानों की अनुचित, तर्क-हीन और निराधार आलोचना से प्रभावित होकर हिंदी-उर्दू के कृत्रिम 'फ़्यूज़न' पर ज़ोर देने लगा, तो उससे हिंदी-जगत् में 'कनफ़्यूज़न' ही और बढ़ेगा। ऐसा करने से न राष्ट्रीयता को लाभ पहुँचेगा, न राष्ट्र-भाषा की समस्या सुलझेगी, न उर्दू का किंचिन्मात्र रूप बदलेगा (वह सिंध, पंजाब, हैदराबाद में सुरक्षित है), बस, हिंदी विकृत होती जायगी, और उसका विकृत रूप गांधीजी और कांग्रेस के प्रताप से युक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बिहार आदि हिंदी प्रांतों में प्रतिष्ठित किया जायगा, और हिंदीवाले स्वयं अपने

हाथों हिंदी की समाधि तैयार करेंगे। हिंदी में फ़ारसी के मेल से तो उर्दू बनी ही है, अब फिर हिंदी और उर्दू के मेल के माने केवल यही हो सकते हैं कि कृत्रिम उपायों से हिंदी में संस्कृत का घनत्व घटाकर अरबी-फ़ारसी का घनत्व बढ़ाया जाय, और आधुनिक हिंदी को ख़त्म कर उसी को अपनाया जाय। यह हमको कदापि स्वीकार नहीं हो सकता। टंडनजी ने गांधीजी-जैसे महान् नेता के विरुद्ध आवाज़ उठाने का साहस किया। हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि वह अपने समन्वय-वाद पर पुनः विचार करें। हिंदी के इस क्रांति-युग में, जब उस पर बल-पूर्वक अरबी-फ़ारसी लादने का प्रयत्न किया जा रहा है, हिंदी-संसार के नेता को भ्रम उत्पन्न करने-वाला समन्वय-वाद शोभा नहीं देता। हमारा नारा होना चाहिए—"हिंदी हमारी राष्ट्र-भाषा है और लिपि देव-नागरी।" इतना मान्य होने पर हिंदी में राष्ट्र-भाषा के लिहाज़ से जो त्रुटियाँ हैं, वे धीरे-धीरे अपने आप दूर होती चली जायँगी, और हिंदी को फ़ारसी से वास्तव में जो कुछ लेना है, वह हिंदी अपने आप हज़म करती जायगी।

हिंदी और फ़ारसी

हिंदी के कुछ विद्वानों का मत है कि राष्ट्र-भाषा के हेतु हिंदी में संस्कृत और फ़ारसी का एक सुंदर समन्वय हो सकता है, और इस प्रकार आदर्श राष्ट्र-भाषा का निर्माण होगा। हिंदी के कुछ अन्य समर्थक यह कहते हैं कि यदि हमें विदेशी भाषाओं का सहारा लेना पड़े, तो हम फ़ारसी की सहायता लें। दोनो प्रकार के विचारों के व्यक्ति तर्क यह देते हैं कि फ़ारसी आर्य-भाषा है, और हमें उससे द्वेष नहीं करना चाहिए।

इस संबंध में दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि अकेली फ़ारसी ही आर्य-भाषा नहीं है। अँगरेज़ी, ग्रीक, लैटिन, जर्मन इत्यादि भी आर्य-भाषाएँ हैं, इन्हें क्यों छोड़ दिया जाता है? उत्तर में शायद यह कहा जायगा कि फ़ारसी का संस्कृत से अन्य आर्य-भाषाओं की अपेक्षा वंश-सामीप्य बहुत अधिक है। यह बात ठीक है, लेकिन न तो आज की फ़ारसी जंदावेस्ता की फ़ारसी है, और न भाषाएँ। अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते समय वंश-वृक्ष का खयाल रखती हैं। भाषाएँ उन विदेशी भाषाओं के शब्द ग्रहण कर लेती हैं, जिनके संपर्क में वे राजनीतिक अथवा

अन्य कारणों से आती हैं। हिंदी में इसी कारण सैकड़ों अरबी के शब्द मौजूद हैं, जिन्हें नहीं निकाला जा सकता, और न निकालना चाहिए। अँगरेज़ी, ग्रीक, लैटिन आदि वंश के लिहाज़ से फ़ारसी की अपेक्षा ज़रूर दूर हैं; लेकिन पिछले दो सौ वर्षों में कम-से-कम अँगरेज़ी हमारे बहुत निकट आ गई है, हम फ़ारसी की अपेक्षा अँगरेज़ी से कहीं अधिक परिचित हो गए हैं, वह फ़ारसी की अपेक्षा कहीं अधिक प्रचलित है, आज देश में अँगरेज़ी का वह प्रभुत्व है जो फ़ारसी का कभी नहीं था, आज तक हिंदी पर अँगरेज़ी का इतना प्रभाव पड़ चुका है जितना फ़ारसी का कभी नहीं पड़ा, जनता की भाषा में अँगरेज़ी के इतने शब्द घुस आए हैं जितने फ़ारसी के कभी नहीं घुसे, और शिक्षितों की बोलचाल की भाषा में (अशिक्षितों की भाषा की बात करना बेकार है, क्योंकि उसने कुछ भी नहीं है) अँगरेज़ी के इतने अधिक शब्द आते हैं कि इतने फ़ारसी के शब्द हिंदी की कौन कहे, आज तक की बोलचाल की उर्दू में भी नहीं आते, और अँगरेज़ी के मेल से 'बाबू हिंदुस्तानी' बन-कर ऐसी प्रचलित हो गई है जितनी उर्दू कभी नहीं हुई। इन सब बातों के सामने अँगरेज़ी की अपेक्षा फ़ारसी का वंश-सामीप्य रत्ती-भर महत्त्व नहीं रखता। यह स्पष्ट है कि भविष्य में भी हिंदी फ़ारसी की अपेक्षा अँगरेज़ी के संपर्क में कहीं अधिक आएगी, और हम चाहें या न चाहें, सैकड़ों

अँगरेज़ी के शब्द हमारी भाषा में घुसते चले जायँगे। ऐसी अवस्था में वंश-सामीप्य की बिना पर विदेशी भाषाओं की सूची में अँगरेज़ी की अपेक्षा फ़ारसी को अधिक महत्त्व देना अस्वाभाविक है, और भाषा की स्वाभाविक प्रगति में बाधक होगा। अँगरेज़ी शब्दों में और कई ऐसे गुण हैं, जिनके सामने फ़ारसी का वंश-सामीप्यवाला गुण बिलकुल तुच्छ है। अँगरेज़ी से शिक्षित-समुदाय फ़ारसी की अपेक्षा कहीं अधिक परिचित है, और उसे अँगरेज़ी के शब्द फ़ारसी के शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक सरल प्रतीत होंगे। इतना ही नहीं, इन शब्दों को वह आज भी अपनी-अपनी मातृ-भाषाओं में उसी प्रकार प्रयुक्त करता है, जिस प्रकार हिंदी-वाले 'बाबू हिंदुस्तानी' में। जब हम अरबी के प्रचलित शब्दों को रखने के लिये तैयार हैं, तो अँगरेज़ी के शब्दों को, जो आज़ भी प्रचलित हैं (शिक्षित-समुदाय में ही सही), छोड़कर नितांत नए फ़ारसी के शब्द क्यों ढूँढ़-ढूँढ़कर लाएँ? अँगरेज़ी के शब्द संपूर्ण भारत में एक समान प्रचलित हैं, इसलिये राष्ट्र-भाषा में इनके होने से और भी सुविधा होगी। संभवतः वे ही अँगरेज़ी के शब्द सब प्रांतीय भाषाओं को भी लेना पड़ेंगे, और इसलिये ये शब्द राष्ट्र-भाषा और प्रांतीय भाषाओं में संस्कृत-शब्दों की भाँति एक अतिरिक्त बंधन का काम करेंगे। यह बात फ़ारसी के साथ नहीं होगी। अँगरेज़ी के शब्द सब धर्मावलंबियों को भी एक समान

मान्य होंगे। फिर अँगरेजी अंतरराष्ट्रीय भाषा है, और इसलिये अँगरेज़ी के शब्द लेने से हम सभ्य संसार के अधिक निकट रहेंगे, और सुविधा भी बहुत होगी। आधुनिक विज्ञान, साहित्य और कला का अँगरेज़ी खज़ाना है, फ़ारसी नहीं। हमें अँगरेज़ी से बहुत कुछ लेना है। सभी प्रांतीय भाषाओं को लेना है। यह सदा नियम रहा है कि जिस भाषा या जिस देश से कोई चीज़ सीखी जाती है, उसी का शब्द भी ग्रहण किया जाता है। योरपीय देशों और अँगरेज़ी के मुक़ाबले में हमें फ़ारस और फ़ारसी से क्या सीखना है? फिर फ़ारसी का संस्कृत से वंश-सामीप्य है, हिंदी से नहीं। हम फ़ारसी और संस्कृत को मिलाकर एक भाषा बनाने नहीं जा रहे हैं। हिंदी का वंश-सामीप्य तो सबसे अधिक पंजाबी, गुजराती, मराठी, बँगला आदि से है। इन भाषाओं के संपर्क में भी हिंदी फ़ारसी, अँगरेज़ी आदि की अपेक्षा कहीं अधिक आएगी। इसलिये सबसे पहले हिंदी का इन भाषाओं के साथ समन्वय क्यों नहीं होना चाहिए? फिर वंश-सामीप्य के लिहाज़ से अपभ्रंश का नंबर आता है, फिर प्राकृत का और फिर संस्कृत का। बेचारी फ़ारसी तो बहुत पीछे है। इन सब बातों के होते हुए जब यह कहा जाता है कि हिंदी में फ़ारसी और संस्कृत का एक सुंदर समन्वय किया जा सकता है, या विदेशी भाषाओं में फ़ारसी को महत्त्व दिया

जाता है, तो इसमें संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि यह भारतीय मुसलमानों को, जो कल तक हिंदू थे लेकिन आज अपने आपको फ़ारस और अरब की सभ्यता का उत्तराधिकारी मानते हैं, पूरे तौर से नहीं, तो थोड़ा-बहुत ख़ुश करने के लिये कहा जाता है। 'फ़ारसी आर्य-भाषा है' आदि बातें केवल लोगों को भुलावे में डालने के लिये कही जाती हैं, असली कारण घोर सांप्रदायिक भावना है। हमें इसका जमकर विरोध करना चाहिए। फ़ारस और तुर्की के मुसलमानों की मिसाल हमारे सामने है। हम राष्ट्र-भाषा के लिये राष्ट्रीयता के धरातल को किसी हालत में नहीं छोड़ सकते। आवश्यकता पड़ने पर हम सबसे पहले भारत की प्रांतीय भाषाओं, आर्य अथवा अनार्य, से शब्द लेंगे, फिर प्राकृत और संस्कृत का खज़ाना टटोलेंगे, और फिर भी यदि काम न चला, तो विदेशी भाषाओं में अँगरेज़ी को फ़ारसी से अधिक नहीं, तो कम-से-कम फ़ारसी के बराबर महत्त्व देंगे।

इस संबंध में दूसर विचारणीय बात यह है कि समन्वय आख़िर होगा किस प्रकार? क्या भाषा में भी सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धांत घुसेड़ा जायगा, और एक मेज़ के चारों ओर बैठकर हिंदू और मुसलमान विद्वान् निर्णय करेंगे कि कौन-सा शब्द संस्कृत का लिया जाय और कौन-सा फ़ारसी का? क्या ऐसा होना कभी संभव है? यहाँ यह

बताना आवश्यक है कि ऊपर समन्वय के जो अर्थ लगाए गए हैं, और जो सिद्धांत निर्धारित किए गए हैं, वे केवल नए आवश्यक शब्दों के विषय में हैं, अर्थात् हिंदी का कोई भी प्रचलित शब्द किसी भी हालत में नहीं निकाला जा सकता और न उसके स्थान पर विदेशी शब्द प्रतिष्ठित किया जा सकता है। यदि समन्वयवादी समन्वय का अर्थ यह लगाते हैं कि ज़बरदस्ती हिंदी में से आवे या किसी और अनुपात में संस्कृत के शब्द निकालकर उनकी जगह फ़ारसी के या किसी और भाषा के शब्द रक्खे जायँ, और राजनीतिक संस्थाओं की तरह भारत की राष्ट्र-भाषा में भी हिंदुओं और मुसलमानों का प्रतिनिधित्व रक्खा जाय और उनका अनुपात निश्चित किया जाय, तो हमें उनकी बुद्धि पर तरस आएगा। इस हालत में अच्छा होगा, यदि वे राष्ट्रभाषा का स्वप्न देखना ही छोड़ दें।

यह भी स्पष्ट है कि सच्चे अर्थों में समन्वय हिंदी के विकास से संबंध रखता है, उसकी छीछालेदर से नहीं। अर्थात् हिंदी को अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार विकसित होने दिया जाय, आज की जो हिंदी है, उसको राष्ट्र-भाषा मानकर कार्य आरंभ किया जाय, राष्ट्र-भाषा के लिहाज़ से हिंदी में जो त्रुटियाँ हैं, वे अपने आप दूर होती चली जायँगी, और हिंदी अपने आप प्रांतीय भाषाओं—संस्कृत, अँगरेज़ी, फ़ारसी इत्यादि—से आवश्यकतानुसार शब्द ग्रहण

करती चली जायगी। फिर यह समन्वयवाद इत्यादि का नाम उठाया ही क्यों जाता है ? ये शर्तें रक्खी ही क्यों जाती हैं कि हिंदी में इसका समन्वय हो, उसका समन्वय हो, तब वह राष्ट्र-भाषा मानी जायगी ? फ़ारसी का सवाल उठता ही क्यों है ? हमारे पास यह मानने के यथेष्ट कारण हैं कि समन्वयवादियों का समन्वय से यही अभिप्राय है कि हिंदी का अंग-भंग किया जाय, और भाषा के डॉक्टर एक मेज़ के चारो ओर बैठकर हिंदी की काट-छाँट करें, और उसे 'आदर्श राष्ट्र-भाषा' बनाने के लिये उसमें फ़ारसी, अरबी, उर्दू इत्यादि की क़लमें लगाएँ। वास्तव में समन्वयवादियों में और हिंदुस्तानीवालों में कोई अंतर नहीं। कोई नाक सामने से पकड़ता है और कोई पीछे से। दोनो की बातों का निचोड़ यह है कि हिंदी में संस्कृत के शब्द कम किए जायँ, और उनकी जगह अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे जायँ, जिससे मुसलमान खुश हो जायँ, और राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लें; इससे चाहे भारत को कठिनाई क्यों न पड़े। वे इसी को सच्ची राष्ट्रीयता समझते हैं। ऐसा न कहीं हुआ है, और न यहाँ हो सकता है, और न इस प्रकार 'आदर्श राष्ट्र-भाषा' या किसी भाषा का निर्माण हो सकता है। यदि इस प्रकार आदर्श भाषाएँ या लिपियाँ बन सकती होतीं, तो संसार में आज एक-से-एक बढ़कर सुंदर भाषाएँ और लिपियाँ होतीं, और उर्दू-जैसी वाहियात लिपियाँ नष्ट हो गई होतीं। आदर्श

भाषा वही है, जो जीवन के साथ चलकर अपने आप बने। भारत की आदर्श राष्ट्र-भाषा भी कृत्रिम उपायों से हिंदी-उर्दू को मिलाने से या संस्कृत और फ़ारसी को मिलाने से नहीं, वरन् हिंदी को स्वाभाविक विकास करने का अवसर देने से बनेगी। हम तथाकथित राष्ट्र-वादियों को सचेत किए देते हैं कि यदि उन्होंने राष्ट्र-भाषा को सांप्रदायिकता या झूठे समन्वयवाद का अखाड़ा बनाया, तो राष्ट्र-भाषा बनना तो दूर, स्वतंत्रता के रास्ते में एक और बाधा खड़ी हो जायगी। या तो वे सच्ची और सीधी बात कहने और करने का साहस करें, या राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को बिलकुल छोड़ दें। समय अपने आप हिंदी को राष्ट्र-भाषा बना देगा। यह स्वप्न देखना बिलकुल बेकार है कि जो हिंदी सदियों तक कुचली जाने पर और उर्दू के अखंड साम्राज्य होने पर भी जीवित रही, और जिसने अपनी आत्मा को आज तक कलुषित नहीं होने दिया, वह कल या अगले दस-बीस वर्षों में उर्दू से, जो भी पुष्ट हो चुकी है और जो हैदराबाद, पंजाब आदि विशाल क्षेत्रों में निष्कंटक राज्य कर रही है और करती रहेगी, मिलकर एक हो जायँगी।

'सरल हिंदी' और 'सरल उर्दू'

जब हिंदुस्तानीवालों से पूछा जाता है कि 'हिंदुस्तानी' क्या है, तब कभी तो वे यह कहते हैं कि 'हिंदुस्तानी' १२ करोड़ की मातृभाषा है, कभी यह कहते हैं कि 'हिंदुस्तानी' उत्तरी भारत के नगरो में बोली जानेवाली भाषा है, और कभी यह कहते हैं कि 'हिंदुस्तानी' 'सरल हिंदी' या 'सरल उर्दू' है। पहली दो बातों के विषय में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। यह सब जानते हैं कि 'हिंदुस्तानी' या खड़ी बोली दो करोड़ से अधिक व्यक्तियों की मातृभाषा नहीं है, और यदि युक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बिहार और राजस्थान के १२ करोड़ निवासियों की भाषा का एक नाम रक्खा जा सकता है, तो वह हिंदी है, क्योंकि यहाँ या तो हिंदी की जनपदीय बोलियाँ व्रज, अवधी इत्यादि या हिंदी से मिलती-जुलती भाषाएँ राजस्थानी, भोजपुरिया, मैथिली आदि बोली जाती हैं। हिंदुस्तानी तो केवल हिंदी की एक जनपदीय बोली का नाम है। इस खड़ी बोली - प्रदेश की बोलचाल की जन-भाषा में कोई एक हजार शब्द होंगे, जो किसी भी गंभीर विषय के विवेचन के लिये नितांत अपर्याप्त हैं। उत्तरी भारत के नगरों में शिक्षितों की जो बोलचाल

और व्यवहार का 'हिंदुस्तानी' है, उसे तीन क़िस्मों में आसानी से बाँटा जा सकता है—हिंदी, उर्दू या अरबी-फ़ारसी-मिश्रित हिंदी, 'बाबू हिंदुस्तानी' या अँगरेज़ी-मिश्रित हिंदी। ज़रा देर के लिये यदि 'बाबू हिंदुस्तानी' को छोड़ दिया जाय, तो भी बोलचाल की हिंदुस्तानी का हिंदी या उर्दू-रूप सब जगह एक-सा नहीं है। बिहार के नगरों में जो हिंदुस्तानी बोली जाती है, वह पंजाब के नगरों में बोली जानेवाली हिंदुस्तानी से कदापि नहीं मिलती। एक ही नगर में विभिन्न व्यक्ति एक ही प्रकार की हिंदुस्तानी नहीं बोलते। यदि सब प्रकार की हिंदुस्तानियों के शब्द एकत्र किए जायँ, तो क्रियाओं और विभक्तियों को छोड़-कर लगभग बाक़ी सब शब्दों के दो-दो पर्याय मिलेंगे—एक देशज या संस्कृत का, एक अरबी या फ़ारसी का। इनमें से 'हिंदुस्तानी' के लिये शब्द किस सिद्धांत के अनुसार छाँटे जायँ, और कौन छाँटे? यदि इन सबको हिंदुस्तानी मान लिया जाय, तो शब्दों का एक अजायबघर अवश्य बन जायगा, भाषा नहीं। ऐसी कोई निश्चित शैली नहीं है, जिसे 'हिंदुस्तानी' का नाम दिया जा सके। बोलचाल की हिंदुस्तानी से कोई समस्या नहीं सुलझती। हमें एक निश्चित स्वरूपवाली भाषा या शैली चाहिए, अर्थात् हमें फिर 'हिंदी' और 'उर्दू' पर आ जाना पड़ता है। यह भी याद रखना चाहिए कि कहीं की बोलचाल की हिंदुस्तानी में

इतने शब्द नहीं हैं कि किसी गंभीर विषय पर विवेचन किया जा सके। हमें अँगरेजी के समान एक समृद्ध और संपन्न भाषा चाहिए। फिर हमें 'हिंदी' और 'उर्दू' की ओर देखना पड़ता है। निचोड़ यह निकला कि 'हिंदुस्तानी १२ करोड़ की मातृभाषा है' या 'हिंदुस्तानी उत्तरी भारत के नगरों में बोलचाल की भाषा है' कहना निरर्थक है, निबटना अंत में 'हिंदी' और 'उर्दू' से ही है। इन दोनो में से कोई राष्ट्र-भाषा हो, अथवा इन दोनो के 'फ्यूज़न' से या किसी और तरकीब से कोई तीसरी निश्चित स्वरूपवाली 'हिंदुस्तानी' बनाई जाय, इस पर अन्यत्र विचार किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना और देखना बाक़ी है कि 'सरल' लगाने से क्या हिंदी और उर्दू एक ही चीज़ हो जाती हैं, जिसे हम 'हिंदुस्तानी' कहें? उत्तर है—हरगिज़ नहीं। 'सरल' का अर्थ केवल यह है कि एक सरल शब्द के रहते उसकी जगह एक कठिन शब्द का प्रयोग न किया जाय, जैसे—बहन, घर, पेड़, रात, सूरज, आँख, पहला, गीत, ठिकाना, झुंड या भीड़, उपजाऊ, खेती के रहते भगिनी, भवन, वृक्ष, रजनी, दिनकर, चक्षु, प्रथम, विजय, स्थान, समूह, उर्वरा, कृषि, या हमशीरा, मंज़िल, दरख्त, शब, आफ़ताब, चश्म, अव्वल, फ़तह, मुक़ाम, मजमा, ज़रखेज़, काश्त या ज़रात प्रयुक्त न किया जाय, अथवा पूरा, आधा, दाँत, मौत, पीठ, लाख, नींद के स्थान में पूर्ण, अर्ध,

दंत, मृत्यु, पृष्ठ, लज्ज, निद्रा या तगादा, तगदीर, नवाब, रोशनी, दखल, अकल असल, उमर, कदर, जिकर, फिकर, हुक्म, खतम, मुलक, वखत, सुबह, मामला के स्थान में तक़ाज़ा, तक़दीर, नव्वाब, रोशनी, दख़्ल, अक़्ल, अस्ल, उम्र, क़द्र, ज़िक्र, फ़िक्र, हुक्म, ख़त्म, मुल्क़, वक़्त, सुबह, मुआमला न लिखा जाय। इस विषय में कई बातें विचारणीय हैं। पहली तो यह कि सरल शब्द कौन-सा है और कठिन कौन-सा, यह निश्चित करना सदैव संभव नहीं। यह बहुत कुछ लेखक पर या जिनके लिये वह लिख रहा है, उन पर निर्भर है। एक लखनऊ-वासी को वजह, अगर, क़ब्ज़ा, ख़ास आसान मालूम पड़ेंगे, लेकिन एक बंगाली (वास्तव में ⅘ भारत को) को कारण, यदि, अधिकार, विशेष सरल मालूम होंगे। दूसरी बात यह है कि भाषा या शैलीको इस प्रकार बाँधा नहीं जा सकता। हम यह नहीं कह सकते कि सदैव रात लिखा जाय, निशा, रजनी इत्यादि कभी नहीं। तीसरी बात यह है कि प्रत्येक शब्द के विषय में अशिक्षितों का उच्चारण मान्य नहीं हो सकता। 'गाँव' को 'ग्राम' लिखने की आवश्यकता नहीं, लेकिन शिक्षित 'देस' को नहीं अपना सकते। सब अशिक्षित भी एक शब्द का एक ही प्रकार से उच्चारण नहीं करते। किसी भी देश में सभ्य-समाज और गँवारों का उच्चारण एक नहीं होता। बी० बी० सी० से जिस प्रकार अँगरेज़ी का उच्चा-

रण होता है, उसी प्रकार विलायत के देहाती अँगरेज़ी नहीं बोलते। ये तीनो बातें ऐसी हैं, जिनको नियम-बद्ध नहीं किया जा सकता। प्रत्येक भाषा या शैली अपना रास्ता अपने आप ढूँढ़ लेती है, और समाज और समय के अनुसार अपने आप बदलती चलती है। असल बात यह है कि सरलता के चाहे जो नियम बना दिए जायँ, 'सरल हिंदी' और 'सरल उर्दू' एक ही चीज़ें नहीं हैं, और न हो जायँगी। दशमलव या आशार्या, अंतरराष्ट्रीय या बैनुलअक़्वामी, आर्थिक या इक़्तिसादी, आलिम या विद्वान्, अदब या साहित्य, नज़्म या कविता आदि-आदि शब्दों से सरल शब्द कहाँ से आवें? ऐसे शब्दों की संख्या इस समय कम-से-कम १५ हज़ार है, जिनके या तो उर्दू पर्याय हैं या हिंदी पर्याय हैं, कोई तीसरे पर्याय नहीं हैं। ऐसे शब्दों की संख्या रोज़ बढ़ रही है और बढ़ती जायगी, जब तक उर्दू-वाले अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाना छोड़कर अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति भारतीय धातुओं से शब्द न बनाएँ। कोई बीच का रास्ता नहीं है। कुछ लोगों ने सुझाया है कि हिंदी-उर्दू वाले दोनो अपने-अपने पुराने शब्द छोड़कर उनके लिये नए शब्द गढ़ लें, अर्थात् पुराना हिंदी और उर्दू-साहित्य चूल्हे में झोंक दें, और फिर से घर बसावें। हमारी बुद्धि को धिक्कार है, जो ऐसी बातें सूझती हैं! दुनिया लौट-पौट हो जाय, लेकिन हिंदी-उर्दू

में अंतर न रहे ! कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि भई, जन-गणना या मर्दुमशुमारी क्यों कहते हो, 'गिनावा' क्यों नहीं कहते। हम कहते हैं, बात तो ठीक है, मगर अफ़-सोस है कि 'जन-गणना' और 'मर्दुमशुमारी' चल गए। अगर आपको गिनावा चला मिले, तो अवश्य चलाइए, हमें कोई आपत्ति नहीं। लेकिन इतना बतलाए देते हैं कि होगा इतना ही कि अभी तो दो—जन-गणना और मर्दुम-शुमारी—चल रहे हैं, आपकी कोशिशों से तीन चलने लगेंगे। पुराने प्रचलित शब्द नए शब्द के निकाले ऐसे नहीं निकलते। फिर, पुराने शब्दों की ध्वनि को नए शब्दों में आने में काफ़ी समय लगेगा। इस बीच में बेचारी ध्वनि-हीन, शक्ति-हीन, कृत्रिम हिंदुस्तानी नहीं, वरन् अँगरेज़ी राष्ट्र-भाषा बनी रहेगी। अधिक अच्छा हो, यदि गिनावा के बजाय, जिसे सबको सिखाना पड़ेगा, जन-गणना, जिसे लाखों पहले ही से जानते और समझते हैं, उनको सिखाओ, जो नहीं जानते हैं। विज्ञान, बुद्धि और तर्क का तो यही तगादा है। यह भी निश्चित है कि ऐसा करना थोड़े-से शब्दों के विषय में ही संभव है। ऐसा करने से हिंदी-उर्दू का अंतर बावन तोले पाव रत्ती के बजाय कोई बावन तोले हो जायगा। जहाँ तक नए शब्दों का संबंध है, वहाँ तक हम इससे बिलकुल सहमत हैं कि पहले देशज धातुओं से शब्द बनाए जायँ, लेकिन यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि देशज धातु बहुत

दूर तक साथ नहीं दे सकते। कुछ थोड़े-से शब्दों को छोड़कर संस्कृत या अरबी-फ़ारसी के धातुओं से शब्द बनाना हमारे लिये अनिवार्य है।

सारांश यह निकला कि 'सरल' शब्द कोई मंत्र नहीं है, जिसके पढ़ने से हिंदी और उर्दू एक ही चीज़ 'हिंदुस्तानी' हो जायँगी। 'सरल हिंदी' और 'सरल उर्दू' में, अगर इनसे एक सभ्य राष्ट्र का काम लेना है, इतना ही अंतर है, जितना 'हिंदी' और 'उर्दू' में। "हिंदुस्तानी माने 'सरल हिंदी' या 'सरल उर्दू'"—यह एक भ्रामक बात है, जिसे कहकर हिंदुस्तानी-वाले बिना हिंदी या उर्दू वालों को अप्रसन्न किए एक बेढब सवाल को टालने का प्रयत्न करते हैं।

कुछ लोग, जिनमें हिंदी के प्रतिष्ठित विद्वान् भी शामिल हैं, कहते हैं, 'साहित्यिक' हिंदी राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती, और जब वे कहते हैं कि हिंदी राष्ट्र-भाषा है, तो उनका मतलब 'साहित्यिक' हिंदी से नहीं होता। कुछ दूसरे लोग कहते हैं, 'शुद्ध' हिंदी राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती। हमें नहीं मालूम कि साहित्यिक हिंदी कौन-सी है, और असाहित्यिक हिंदी कौन-सी, अथवा शुद्ध हिंदी कौन-सी है और अशुद्ध हिंदी कौन-सी। हम तो यह जानते हैं कि 'हिंदी' एक ही है, विषय, समय और अवसर के अनुरूप उसकी शैली अवश्य बदलती है। ऐसा सब भाषाओं में होता है। अँगरेज़ी में बच्चों की कहानियाँ लिखते समय जिस शैली का प्रयोग किया जाता है,

उसी में कार्लाइल के निबंध नहीं हैं, एक अँगरेज सभ्य जिस भाषा में अपने नौकर से बात करता है, उसी में चर्चिल साहब अपने भाषण नहीं देते, लेकिन आज तक किसी ने साहित्यिक और असाहित्यिक, शुद्ध और अशुद्ध, सरल और कठिन अँगरेज़ी की क़िस्मों में भेद करने की चेष्टा नहीं की, सब कुछ एक 'अँगरेज़ी' शब्द कह देता है। हिंदी में भी बच्चों की कहानियाँ और कविताएँ भी हैं, और आचार्य शुक्ल के निबंध और 'निराला' के काव्य भी। हिंदी में मज़दूरों की सभा में भी भाषण दिए जाते हैं, और साहित्यिकों की गोष्ठी में भी, हिंदी में घरेलू बातचीत भी की जाती है, और भारत की पार्लियामेंट में भाषण भी होंगे। राष्ट्र-भाषा हिंदी को वे सभी कार्य संपादन करना होंगे, जो एक सभ्य राष्ट्र के हो सकते हैं, और इसके लिये हिंदी की सभी शैलियों का उपयुक्त प्रयोग किया जायगा। हिंदी को राष्ट्र-भाषा क़रार देने से पहले उस पर विशेषणों के प्रतिबंध लगाना एक विचित्र बात है। वास्तव में जो यह कहते हैं कि 'साहित्यिक' हिंदी या 'शुद्ध' हिंदी राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती, या जो बिना 'सरल' विशेषण लगाए हिंदी को राष्ट्र-भाषा नहीं कह सकते, वे प्रकारांतर से 'हिंदुस्तानी' के ही समर्थक हैं, और समस्या को और उलझाते हैं।

रोमन-लिपि

रह-रहकर विद्वानों की ओर से यह प्रस्ताव पेश किया जाता है कि राष्ट्र-भाषा 'हिंदुस्तानी' की लिपि रोमन हो। रोमन-लिपि के पक्ष में निम्न-लिखित तर्क दिए जाते हैं—

(१) रोमन-लिपि सरल और सुबोध है, इसके अक्षरों की आकृतियाँ सीधी-सादी हैं, और यह बहुत जल्दी सीखी जा सकती है।

(२) रोमन-लिपि में शीघ्रता से लिखा जा सकता है।

(३) रोमन-लिपि से टाइप करने और छापने में बहुत सुविधा हो जायगी।

(४) रोमन-लिपि आधी दुनिया की लिपि है।

(५) रोमन-लिपि सबको मान्य होगी, इससे लिपि के सब झगड़े दूर हो जायँगे, और राष्ट्र-भाषा की लिपि की समस्या मज़े में सुलझ जायगी।

हमें यह मानने में बिलकुल संकोच नहीं कि जहाँ तक सीखने, लिखने, टाइप करने और छापने का संबंध है, वहाँ तक रोमन-लिपि देवनागरी-लिपि की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। लेकिन तस्वीर के दूसरे रुख पर नज़र डालना

बहुत जरूरी है। रोमन-लिपि में सब भारतीय ध्वनियाँ नहीं लिखी जा सकतीं। देवनागरी-लिपि पूर्ण है, रोमन-लिपि अपूर्ण। देवनागरी में जैसा लिखा जाता है, वैसा पढ़ा जाता है। यह विशेषता रोमन-लिपि में नहीं है। इसी कारण विदेशी विद्वानों ने भी देवनागरी को संसार की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि बतलाया है। इस विशेषता के कारण रोमन-लिपि सीखना भले ही अपेक्षाकृत आसान हो, लेकिन लिपि सीखने पर उसमें हिंदी या अन्य किसी भाषा का लिखना और पढ़ना देवनागरी-लिपि में लिखने और पढ़ने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। हमारा मतलब लिपि सीखने से नहीं, वरन् उसमें लिखने-पढ़ने से है। बर्नार्ड शॉ-सरीखे विद्वानों ने कहा है कि रोमन-लिपि की अपूर्णता और अवैज्ञानिकता के कारण बच्चों का बहुत-सा अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट होता है, और फिर भी स्पेलिंग की ग़लतियाँ होती ही रहती हैं। देवनागरी में यह बात नहीं है। लिपि का अभ्यास होने पर उसमें लिखने-पढ़ने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। लिपि आई नहीं कि उसमें भाषा का शुद्ध लिखना-पढ़ना भी आ गया। रोमन-लिपि में कितनी ही भारतीय ध्वनियों के लिये, जो देवनागरी में एक अक्षर द्वारा व्यक्त की जाती हैं, दो या तीन अक्षर लिखने पड़ेंगे। इन सब कारणों से रोमन-लिपि सीखने में बचा हुआ समय उस लिपि में हिंदी लिखना-पढ़ना सीखने में

निकल जायगा (और फिर भी घटेगा), और रोमन-लिपि में हिंदी लिखना या छापना या टाइप करना भी इतना द्रुत न रह जायगा। फिर शब्दों के जो उच्चारण हजारों साल से सुरक्षित हैं, वे भी भ्रष्ट हो जायँगे। व्यक्तियों और स्थानों के नामों में बहुत परिवर्तन हो जायगा। यह अँगरेजी की कृपा से आज भी देखा जा सकता है (उर्दू-लिपि के कारण भी कितने ही शब्दों के उच्चारण में भेद हो गया है)। प्रत्येक लिपि की एक प्रकृति और ध्वनि-प्रणाली होती है, जो शब्द उसमें लिखा जाता है, वह उसी के साँचे में ढल जाता है। रोमन-लिपि में हिंदी पढ़ने और लिखने में बड़ी जबरदस्त असुविधा होगी। कुछ विद्वानों ने भारतीय ध्वनियों को लिखने के लिये और देवनागरी की वैज्ञानिकता लाने के लिये रोमन-लिपि में कुछ परिवर्तन और संशोधन करने की योजना बनाई है। वे रोमन-लिपि के अक्षरों को देवनागरी का उच्चारण भी देना चाहते हैं। इस विषय में इतना कहना यथेष्ट होगा कि लिपि में इस प्रकार का काया-पलट होना संभव नहीं। बर्नार्ड शॉ तथा कई अन्य विद्वानों ने रोमन-लिपि में सुधार करने की सोची, और इसके लिये भरसक प्रयत्न किया, परंतु बिलकुल असफल रहे। रोमन-लिपि में इन सुधारों के बाद उसमें लिखना, छापना और टाइप करना भी उतना आसान न रह जायगा, न उसे सीखना उतना आसान रहेगा, और न

रोमन-लिपि में तार देने, मोर्स आदि की वर्तमान सुविधाएँ रह जायँगी। फिर, यदि रोमन-लिपि में इस प्रकार के सुधार करने हैं, तो टाइप-राइटर और छापेखाने के अधिक उपयुक्त बनाने के लिये और शीघ्र सीखने और लिखने के लिये देवनागरी में ही कुछ सुधार क्यों न कर लिए जायँ? लेकिन इतना याद रखना चाहिए कि लिपि में क्रांतिकारी परिवर्तन करना संभव नहीं। जैसा डॉ० धीरेंद्र वर्मा ने कहा है, दर्ज़ी कपड़े को शरीर के नाप का काटता है; शरीर को कपड़े के नाप का नहीं। देवनागरी से ज्यादा अच्छी तरह काम लेने के लिये टाइप-राइटर, छापाखाना, टाइप करने और छापने की विधियों में ही सुधार करना असंभव नहीं। शीघ्रता से लिखना तो बहुत कुछ अभ्यास की बात है। फिर अति शीघ्र लिखने के लिये हिंदी की शीघ्र-लिपि या संकेत-लिपि (शार्ट-हैंड) बन चुकी है (या बनाई जा सकती है)।

ऊपर केवल उपयोगिता की दृष्टि से विचार किया गया है। परंतु संसार में केवल उपयोगिता ही एक चीज नहीं है। हमें देखना है कि देवनागरी के स्थान में रोमन-लिपि को लाना संभव भी है या नहीं? थोड़े-से विचार से मालूम हो जाता है कि यह संभव नहीं है। रोमन-लिपि विदेशी है, देवनागरी ठेठ स्वदेशी। राष्ट्रीयता के इस युग में केवल थोड़ी-सी आपेक्षिक उपयोगिता भारतीयों को अपनी राष्ट्र-भाषा के लिये अपनी स्वदेशी लिपि छोड़कर एक विदेशी लिपि अप-

नाने पर तैयार करने में कभी सफल न होगी। इस संबंध में प्रायः कमाल पाशा की तुर्की का उदाहरण दिया जाता है। लेकिन यह उदाहरण ठीक नहीं घटता। तुर्की की लिपि रोमन-लिपि के समान ही अवैज्ञानिक थी, और साथ ही तुर्की-लिपि में टाइप करना और आधुनिक छापेख़ाने के सब आविष्कारों से लाभ उठाना बिलकुल असंभव था। फिर तुर्की-लिपि का तुर्की-निवासियों के धर्म से कोई संबंध न था। परंतु देवनागरी हज़ारों वर्षों से भारत की तीन चौथाई जनता की धार्मिक भाषा संस्कृत की लिपि है, और इसका धर्म से लगाव प्रत्यक्ष है। देवनागरी से हमारा आंतरिक संबंध हो गया है, और उसके चारो ओर हमारे हृदय के कोमलतम भाव जुड़ गए हैं। एक बात और है। तुर्की ने तुर्की-लिपि हटाकर रोमन-लिपि अपनाई। देश में एक ही लिपि रही। परंतु भारत में रोमन-लिपि प्रांतीय लिपियों के अतिरिक्त होगी, और एक अतिरिक्त बोझा होगी। तुर्की का उदाहरण भारत में घटित नहीं होता। भारत-जैसा प्राचीन और सभ्य देश अपनी प्रतिष्ठा के ख़याल से भी अपनी स्वदेशी लिपि छोड़कर एक विदेशी लिपि नहीं अपनाएगा। चीनी-भाषा की लिपि अत्यंत दुरूह है, लेकिन चीन ने अपनी लिपि नहीं छोड़ी। कितने ही अन्य प्राचीन और सभ्यताभिमानी देशों ने अपनी लिपि, रोमन-लिपि की अपेक्षा निकृष्ट होते हुए भी (देव-नागरी-लिपि की अपेक्षा कहीं निकृष्ट), नहीं छोड़ी। लिपि का

बदलना आसान काम नहीं। बदलने की कौन कहे, लिपि में मामूली-सा सुधार करना भी बड़ा कठिन होता है। वर्षों से सम्मेलन तथा अन्य संस्थाएँ देवनागरी में सुधार करने का प्रयत्न कर रही हैं, लेकिन कृतकार्य न हो सकीं। बर्नार्ड शॉ ने रोमन-लिपि में केवल सुधार करने का इतना प्रयत्न किया, लेकिन असफल रहे। यदि लिपियों में सुधार करना या उनका बदलना केवल कुछ विद्वानों के बस का होता, तो पश्चिम में जो उपयोगिता-वादी और बुद्धि-वादी होने का दावा करता है, रोमन-लिपि के बजाय कोई पूर्ण और वैज्ञानिक लिपि होती। सुनने में आया है कि अमेरिका के एक प्रोफेसर ने एक आदर्श लिपि बनाई है। पश्चिम ही रोमन-लिपि छोड़कर इस आदर्श लिपि को अपना लेगा. इसकी कोई संभावना नहीं दीखती। अन्य आविष्कारों की भाँति नित्य एक-से-एक बढ़कर लिपियों का आविष्कार हो सकता है, लेकिन क्या अधिक उपयोगिता के कारण प्रचलित लिपियों को रोज बदला भी जा सकता है? आज रोमन-लिपि की चर्चा है, कल किसी और लिपि की चर्चा हो सकती है। लिपि बदलने की बात विद्वानों के वाद-विवाद का विषय हो सकती है, लेकिन जनता को ऐसी बातों से कोई मतलब नहीं। वह तो उसी लिपि में लिखेगी, जिसमें अब तक लिखती आ रही है। उसके लिये यह संभव नहीं कि आज अँगरेजों का राज्य है, तो रोमन-लिपि अपना ले, कल अगर

जापानियों का हो, तो जापानी-लिपि अपना ले। लिपि-परिवर्तन बच्चों का खिलवाड़ नहीं है। जैसा प० जवाहरलाल नेहरू ने कहा है, रोमन-लिपि के रास्ते में उसके अँगरेज़ों के शासन से संबंधित होने के कारण भारतीयों की भावना एक और रुकावट पेश करेगी। भावना में तर्क से कहीं अधिक बल होता है। पं० नेहरू का वैसे भी यह विचार है कि रोमन-लिपि राष्ट्र-लिपि नहीं हो सकती। वह कहते हैं, लिपियों के साथ हमारी जो भावनाएँ जुड़ गई हैं, वे अटल हैं। गांधीजी भी रोमन-लिपि के विरुद्ध हैं।

राष्ट्र-भाषा एक साहित्य-हीन भाषा नहीं हो सकती। उसे किसी प्रदेश-विशेष की मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा भी अवश्य होना पड़ेगा, क्योंकि यदि ऐसा न हुआ, तो वह जीवित न रह सकेगी। कोई भी भाषा केवल साहित्य में जीवित नहीं रह सकती। उसके जीवित रहने के लिये ज़रूरी है कि उसका जीवन के साथ संपर्क हो, वह जीवन और समाज के साथ चले, और उसमें नित्य जीवन की नई स्फूर्ति आए। ऐसा होने के लिये उसे किसी समाज-विशेष की मातृभाषा होना आवश्यक है। वह जब बच्चों से लेकर बूढ़ों तक के मुँह में ढलती रहेगी, तभी उसमें जान रहेगी। आज हम भारतीय अँगरेज़ी में जो शक्ति पाते हैं, और उसमें अपना सारा काम चला पाते हैं, उसका कारण यही है कि अँगरेज़ी कई सभ्य जातियों की मातृभाषा है, और इस

कारण उसमें जीवन के साथ आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहते हैं। यदि आज भारत का संपर्क अँगरेजी बोलने-वाली जातियों से बिलकुल काट दिया जाय, और उन जातियों द्वारा सृजित साहित्य का आना बिलकुल बंद कर दिया जाय, तो हम दस-बीस वर्षों में ही अँगरेजी को निर्जीव और अपनी आवश्यकताओं के लिये अनुपयुक्त महसूस करने लगेंगे। उच्चारण का भी कोई आदर्श न रह जायगा। भाषा में जीवन की साँस रखना उन्हीं लोगों का काम है, जिनकी वह मातृभाषा है, जिसमें वे माता से सीख-कर तुतलाते हैं, और जिसकी प्रकृति को अनायास समझते और जानते हैं। वे ही भाषा को शक्तिशाली, व्यंजना शील और मुहावरेदार बना सकते हैं। भारत को राष्ट्र-भाषा एक ऐसी कृत्रिम भाषा नहीं हो सकती, जिसको संपूर्ण राष्ट्र केवल स्कूलों में सीखेगा (योरप की एस्पैरैंटो के न चलने का कारण भी यही था कि वह किसी की मातृभाषा नहीं थी)। भारत की राष्ट्र-भाषा किसी-न-किसी प्रांत की मातृभाषा होगी, और उस प्रांत की देन होगी। मान लीजिए, वह हिंदी है। तो हिंदी-भाषी प्रांतों में तो साहित्य का निर्माण देव-नागरी में होगा, फिर उसे रोमन-लिपि में कैसे छापा जा सकेगा? अब तक के हिंदी-साहित्य को भी रोमन-लिपि में छापना संभव नहीं। यह स्पष्ट है कि या तो हिंदी-भाषी प्रांतों में भी हिंदी की लिपि रोमन हो, जो बिलकुल असंभव है,

या राष्ट्र-भाषा हिंदी की लिपि भी देवनागरी हो, वरना राष्ट्र के लिये राष्ट्र-भाषा में जीवित साहित्य देना क़रीब-क़रीब नामुमकिन हो जायगा, और एक ओर राष्ट्र-भाषा का साहित्य, समाचार-पत्र इत्यादि हिंदी-भाषियों के लिये अधिक काम के न होंगे, और दूसरी ओर प्रांत-भाषा हिंदी का साहित्य, समाचार-पत्र इत्यादि राष्ट्र के काम न आएँगे। ऐसा नहीं हो सकता।

राष्ट्र-भाषा के लिये रोमन-लिपि मान्य होने पर भी स्वतंत्र भारत में सबको नहीं, तो कम-से-कम तीन चौथाई जनता को देवनागरी-लिपि फिर भी सीखनी पड़ेगी। हिंदू-जाति का प्राण, धर्म, सभ्यता और संस्कृति संस्कृत में है। स्वतंत्र भारत संस्कृत के पठन-पाठन की उपेक्षा नहीं कर सकता। कोई भी हिंदू स्वतंत्र भारत में विना संस्कृत के ज्ञान के शिक्षित कहलाने का अधिकारी न होगा। संस्कृत में हिंदुओं का ही नहीं, भारत का, आज के सब हिंदू-मुसलमानों के पूर्वजों का, गौरव और इतिहास भरा हुआ है, और इस नाते संस्कृत भारतीय मुसलमानों की भी संपत्ति है। स्वतंत्र भारत में स्कूलों और कॉलेजों में द्वितीयावस्था में संस्कृत अनिवार्य विषय होगी, कम-से-कम हिंदुओं के लिये तो अवश्य ही। अधिकांश मुसलमान भी संस्कृत को पढ़ना चाहेंगे। इस कारण देवनागरी-लिपि तो लगभग सबको सीखनी ही होगी, फिर रोमन-लिपि के बोझे को डालने की

क्या जरूरत है? आज भी संस्कृत की लिपि होने के कारण देवनागरी संपूर्ण भारत में विराजमान है, और उसके जाननेवाले प्रत्येक गाँव में मिल जायँगे। यदि संस्कृत को जरा देर के लिये छोड़ भी दिया जाय, तो भी मराठी, गुजराती, बँगला और गुरुमुखी की लिपि या तो देवनागरी है या उसका थोड़ा-सा रूपांतर। इन सब भाषा-भाषियों को अपनी मातृभाषा और मातृभाषा की लिपि सीखने के बाद देवनागरी सीखना और लिखना रोमन-लिपि की अपेक्षा कहीं अधिक आसान पड़ेगा। आज भी देवनागरी जाननेवालों और लिखनेवालों की संख्या करोड़ों है, जिनमें कम-से-कम डेढ़ करोड़ मुसलमान भी शामिल हैं, लेकिन रोमन को कितने जानते हैं? क्या इन बातों का कोई महत्त्व नहीं? ऐसी व्यापक देवनागरी-लिपि के होते हुए राष्ट्र-भाषा के लिये रोमन-लिपि घुसेड़ना पागलपन है। इस निर्धन और अशिक्षित देश में करोड़ों के लिये एक लिपि का सीखना ही कठिन है। जब इस देश में आज भी करोड़ों देवनागरी जानते हैं (लघु-हिंदी बोलते और समझते तो हैं ही), तो रोमन को राष्ट्र-लिपि बनाना क्या अर्थ रखता है? देवनागरी में तो वे राष्ट्र-भाषा कल ही से पढ़ने लगेंगे, लेकिन रोमन में वह उनके लिये रोमन रहेगी। उनको न केवल रोमन-लिपि सिखाने में बहुत समय लगेगा, वरन् बहुत-सा समय और शक्ति तो उन्हें रोमन-लिपि सीखने के लिये

तैयार करने में लगेगी। करोड़ों देवनागरी सीखने के लिये आग्रह करेंगे, लेकिन रोमन से दूर भागेंगे। कारण स्पष्ट हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि देवनागरी के मुक़ाबले में रोमन-लिपि की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये उपयोगिता आदि के आधार पर जो तर्क दिए जाते हैं, उनमें तथ्य नहीं है। यह बात इससे भी साफ़ जाहिर है कि रोमन-लिपि के मुक़ाबले में देवनागरी में जो त्रुटियाँ बतलाई जाती हैं, वे अन्य प्रांतीय लिपियों में भी हैं (उर्दू में तो बहुत हैं), परंतु उपयोगिता के आधार पर यह कहने का साहस कोई नहीं करता कि प्रांतीय लिपियों का स्थान भी रोमन को दे दिया जाय। रोमन-लिपि का नारा बुलंद करने का कारण केवल एक है। वह यह कि "रोमन-लिपि से राष्ट्र-लिपि-संबंधी सब झगड़े तय हो जायँगे।" परंतु यह तो ऐसा ही हुआ कि चूँकि 'पाकिस्तान' और 'हिंदुस्तान' में समझौता नहीं होता, इसलिये 'इँगलिस्तान' बना रहे, या चूँकि हिंदी और उर्दू का विवाद नहीं निबटता, इसलिये अँगरेज़ी राष्ट्र-भाषा हो या चूँकि हिंदू-मुस्लिम-प्रश्न हल नहीं होता, इसलिये सब ईसाई हो जायँ! इस प्रकार के अवसर-वादी तर्कों पर कोई राष्ट्र-प्रेमी ध्यान नहीं दे सकता। "रोमन-लिपि आधी दुनिया की लिपि है"-यह भी इसी प्रकार का तर्क है। आधी दुनिया ईसाई है, तो क्या हम

भी ईसाई हो जायँ ? बाहर की दुनिया की अपेक्षा भारत के प्रांतों से संपर्क रखना कहीं अधिक ज़रूरी है। जिन मुसल-मानों ने अब रोमन-लिपि के आंदोलन में दिलचस्पी लेनी शुरू की है, वह इस कारण कि इस आंदोलन के सफल होने पर वे 'हिंदुई' देवनागरी क़बूल करने से बच जायँगे। तुर्की के मुसलमान तुर्कीलिपि छोड़कर नितांत विदेशी लिपि अपना सकते हैं, परंतु भारत के मुसलमान राष्ट्र-भाषा के लिये स्वदेशी देवनागरी नहीं अपना सकते! कैसी विडंबना है! ऐसे लोगों से समझौता नहीं हो सकता। खेद है, कुछ विद्वान् देव नागरी-सरीखी स्वदेशी, प्राचीन, बहु-प्रचलित और वैज्ञानिक लिपि के होते हुए रोमन-लिपि का राग अलापकर समस्या को और जटिल बना रहे हैं।

हिंदुस्तानी उर्फ़ उर्दू और कांग्रेस

गांधीजी और कांग्रेस के हिंदुस्तानी-वाद के कारण हिंदी के सत्यानाश के सिवा और कुछ नहीं हुआ है और न होगा। 'हिंदुस्तानी' की जो विभिन्न परिभाषाएँ—'सबकी समझ में आनेवाली भाषा', 'जनता की भाषा', 'उत्तरी भारत के नगरों में बोली जानेवाली भाषा', '५० प्रतिशत हिंदी ५० प्रतिशत उर्दू', 'हिंदी-उर्दू की त्रिवेणी या हुगली', 'हिंदी-उर्दू का स्वोट' या 'ऐक्सेप्टेबिल .फ्यूज़न', 'हिंदी-उर्दू के बीच की भाषा', 'सरल हिंदी या सरल उर्दू' आदि-आदि—समय-समय पर हिंदुस्तानीवालों ने दी हैं, उन पर विचार किया जा चुका है। परंतु परिभाषाएँ पुस्तकों के पन्ने रँगने के लिये और ठलुआ विद्वानों के वाद-विवाद के लिये होती हैं। हमें देखना यह है कि हिंदुस्तानी की सबसे बड़ी समर्थक कांग्रेस की व्यवहार की 'हिंदुस्तानी' क्या है। अगर यह हिंदुस्तानी वही है, जिसे कांग्रेस के चोटी के नेता मौलाना आज़ाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू, श्रीआसफ़अली और डॉ० राजेंद्रप्रसाद, जिनको 'हिंदुस्तानी' के सिवा और कुछ बोलना नहीं आता, सार्वजनिक सभाओं में, काँग्रेस के अधिवेशनों में, कांग्रेस की गुप्त मंत्रणाओं में बोलते हैं, अगर यह

हिंदुस्तानी वही है, जो कांग्रेस की सभाओं में आम तौर से व्यवहृत होती है, अगर यह हिंदुस्तानी वही है, जिसे डॉ० राजेंद्रप्रसाद और डॉ० सैयद महमूद बिहार में और पंडित गोविंदवल्लभ पंत, पंडित सुंदरलाल और आचार्य नरेंद्रदेव युक्त प्रांत में सभा-सोसाइटियों में बोलते हैं, अगर यह हिंदुस्तानी वही है जो बिहार और युक्त प्रांत के स्कूलों में कांग्रेस-राज में चलाई गई और अब भी चलाई जा रही है, तो वह निःसंकोच उर्दू है, उसकी परिभाषा चाहे कुछ दी जाय। जैसा पंडित बालकृष्ण शर्मा ने कहा है (पत्रिका, ११ एप्रिल, १९४५), जब गांधीजी के हिंदी का समर्थन करने के कारण मुसलमानों ने हाय-तोबा मचाई, तब कांग्रेस ने उर्दू के प्राचीन नाम 'हिंदुस्तानी' को पुनर्जीवित किया, और उसकी प्रतिष्ठा की। प्रतिष्ठा-समारोह के आचार्य बने टंडनजी। अब टंडनजी कहते हैं, 'हिंदुस्तानी' से उनका अभिप्राय 'हिंदी या उर्दू' से था। जब हिंदी और उर्दू स्वतंत्र भाषाएँ मान ली गई हैं, और उनके अपने-अपने नाम मौजूद हैं, तो उनकी जगह 'हिंदुस्तानी' नाम रखने की क्या जरूरत थी ? जब हिंदी और उर्दू से भिन्न 'हिंदुस्तानी' नाम की ऐसी कोई भाषा थी ही नहीं, जिसमें कांग्रेस का काम चल सकता होता, तो उस मुर्दा नाम को फिर से जिंदा करने की क्या जरूरत थी ? जब कांग्रेस के बुलेटिन, कांग्रेस-नेताओं के भाषण आदि उर्दू-लिपि में शुद्ध उर्दू, में और

हिंदी-लिपि में आधी उर्दू आधी हिंदी में छापे गए, तब टंडनजी क्यों नहीं बोले ? जब हिंदुस्तानी का अर्थ लगाया गया हिंदी-उर्दू का खिचड़ी (और दोनो लिपि) और उसी को श्रीराजगोपालाचारी द्वारा मदरास के स्कूलों में, विद्या-मंदिर-योजना, 'हिंदुस्तानी बोलचाल' और महमूद रीडरों में चलाया गया, तब टंडनजी ने हिंदुस्तानी का अर्थ क्यों नहीं स्पष्ट किया ? जब युक्त प्रांत के कांग्रेसी मंत्री अनुवाद-विभाग से अपने भाषणों का उर्दू-संस्कार कराते थे, तब टंडनजी कहाँ थे ? क्या अब भी टंडनजी कांग्रेस-विधान में 'हिंदुस्तानी' शब्द को निकलवाकर 'हिंदी या उर्दू' रखाने का साहस करेंगे ?❀

❀ गांधीजी, श्रीश्रीमन्नारायण अग्रवाल, दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा के मंत्री श्रीसत्यनारायण और हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा के अन्य समर्थकों के वक्तव्यों से प्रकट होता है कि वे टंडनजी से सहमत हैं कि 'हिंदुस्तानी' का अर्थ है 'हिंदी और उर्दू'। यदि ऐसा है, तो वे अपनी नीति के समर्थन में कांग्रेस के सन् १९२५ वाले प्रस्ताव की दुहाई किस प्रकार देते हैं ? उस प्रस्ताव में तो केवल यह कहा गया है कि कांग्रेस का काम 'हिंदुस्तानी' अर्थात् इन सब सज्जनों के मतानुसार 'हिंदी और उर्दू' में होगा। उस प्रस्ताव में यह तो कहीं नहीं कहा गया है कि हिंदी और उर्दू का 'फ़्यूज़न' कर एक नई भाषा या शैली गढ़ी जाय (अगर खींच-तानकर यह अर्थ निकलता ही है, तो साथ में क्या यह अर्थ भी नहीं निकलेगा कि इस नई, तीसरी शैली के लिये हिंदी-लिपि और उर्दू-लिपि का फ़्यूज़न कर

कोई कुछ कहे, इस बात पर पर्दा नहीं डाला जा सकता कि 'हिंदुस्तानी' नाम मुसलमानों के विरोध के कारण स्वीकृत किया गया, मुसलमानों को खुश करने के लिये कांग्रेस ने उस नाम की आड़ में उर्दू का प्रचार किया, और जब से कांग्रेस के ऊपर हिंदू-मुसलमान की झूठी एकता का भूत सवार हुआ है, तब से इस नाम के द्वारा हिंदुओं को उल्लू बनाकर उर्दू की बैकडोर से लाकर उनसे हिंदी छुड़वा 'हिंदुस्तानी के नाम से उर्दू मनवाने के लिये षड्यंत्र रचा जा रहा है। रेडियो को हिंदुस्तानी के नाम से उर्दू लादने के लिये कांग्रेस की मूक सम्मति प्राप्त है ही। जब मैंने केंद्रीय असेंबली के कुछ कांग्रेसी सदस्यों को रेडियो के मामले पर प्रस्ताव पेश करने के लिये लिखा, तो उन्होंने कांग्रेस की नीति की दुहाई देकर क्षमा माँग ली। गांधीजी भला कैसे

एक नई लिपि भी बनाई जाय ?) और न यह कहा गया है कि प्रत्येक भारतीय हिंदी और उर्दू, और दोनों लिपियाँ सीखे, जिन दो उद्देश्यों को लेकर हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा स्थापित की गई है। प्रकट है कि कांग्रेस के प्रस्ताव में 'हिंदुस्तानी' शब्द 'हिंदी' और 'उर्दू' नामों के रहते किसी ख़ास मतलब से जान-बूझकर अस्पष्टता और दुमानी भाव लाने के लिये रक्खा गया। वह ख़ास मतलब क्या था और क्या है, और 'हिंदुस्तानी' शब्द की अस्पष्टता और दुमानीपन से क्या लाभ उठाया गया है और उठाया जा रहा है, यह कांग्रेस, गांधीजी और कांग्रेस के अन्य नेताओं की पिछली और वर्तमान नीति से भली भाँति प्रकट है।

बोल सकते हैं? पंडित सुंदरलाल को जो बोलना था, सो बोल ही चुके। टंडनजी ने और संपूर्णानंदजी ने कुछ कहने का साहस किया, तो 'अंजुमन-ए-तहफ़्फ़ुज़-ए-उर्दू' आदि नाना प्रकार की संस्थाओं ने बरसाती मेंढकों की भाँति प्रकट होकर चिल्लाना शुरू कर दिया, गांधी बाबा को शिकायतें भेजीं, और अंत में अपने उद्देश्य में सफल हो गईं। वर्धा में 'हिंदुस्तानी-तालीमी-संघ', 'हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा', 'नई तालीम' आदि सभाएँ और योजनाएँ उर्दू को हिंदुओं के गले के नीचे उतारने के लिये बनाई जा रही हैं। वर्धा में जितना काम होता है. सब 'हिंदुस्तानी' में। इन सब कामों के जो विज्ञापन निकलते हैं, उसमें लिखा रहता है "जो सज्जन हिंदुस्तानी जानते हों, वे अर्ज़ी भेजें।" पता नहीं, ऐसे सज्जन किन स्कूलों से 'हिंदुस्तानी' पढ़कर निकले होंगे। परंतु कांग्रेस ने अपने जाने हिंदुस्तान से एक हज़ार वर्ष पुरानी हिंदी का अस्तित्व मिटा दिया। कांग्रेस के लिये अब 'हिंदी' नाम लेना ही पाप और सांप्रदायिकता है। अब भारत में केवल उर्दू है, जो पाकिस्तानी प्रांतों में बोली जाती है (वहाँ उर्दू को हटाकर 'हिंदुस्तानी' कौन करे या वहाँ उर्दू का नाम बदलकर 'हिंदुस्तानी' कौन धरे), और 'हिंदुस्तानी' है, जो हिंदुस्तानी प्रांतों में बोली जाती है, जिसको कांग्रेस ने वहाँ की भाषा क़रार दिया है, और जिसे आज़ाद, नेहरू आदि कांग्रेस-नेता बोलते हैं। हिंदी कोई नहीं

बोलता। हिंद में उर्दू, हिंदुस्तानी, तामिल, मराठी, बंगाली आदि नामों की भाषाएँ हैं, हिंदी नाम की कोई भाषा नहीं रही। यह सब कांग्रेस के हिंदुस्तानी-वाद के कारण अपने आप हो गया ❋। दक्षिण-भारत में दक्षिण-भारत-

❋ इसका सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ेगा कि 'हिंदुस्तानी' उर्दू से भिन्न न रह सकेगी। 'हिंदुस्तानी' शब्द उर्दू का प्राचीन पर्याय है। उस शब्द की ध्वनि निश्चित हो चुकी है। विदेशों में आज भी हिंदुस्तानी का अर्थ उर्दू लगाया जाता है। जब हिंदी रही ही नहीं, तो हिंदुस्तानी उर्दू से भिन्न कैसे हो सकती है? हिंदुस्तान की हिंदुस्तानी को आमफ़हम होने के लिये पाकिस्तान की हिंदुस्तानी के सदृश अपने आप हो जाना पड़ेगा। आज हिंदी-उर्दू का फ़्यूज़न करके हिंदुस्तानी बनाई जा रही है। जब इतना हो जायगा, और हिंदी की धारा लुप्त हो जायगी, तो इसके बाद इस हिंदुस्तानी का पाकिस्तानी प्रांतों की हिंदुस्तानी उर्फ़ उर्दू से समन्वय होना अवश्यं-भावी है, और अंत में वह उर्दू ही हो जायगी, क्योंकि पाकिस्तान अपनी हिंदुस्तानी के स्वरूप में कोई अंतर न होने देगा। आज हिंदुस्तानी की वेदी पर हिंदी की बलि गांधी की राष्ट्रीयता, हिंदू-मुस्लिम-एकता और नेहरू की अंतरराष्ट्रीयता के नारों के साथ दी जा रही है; इसके बाद कल ये ही सज्जन हिंदुओं को सिखाएँगे कि इस हिंदुस्तानी को उर्दू का समानार्थक बनाना ही राष्ट्रीयता का चरम आदर्श है। इसी आदर्श को सामने रखकर और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्रीअब्दुल्ला बरेलवी-जैसे राष्ट्र-वादी

हिंदी-प्रचार-सभा के प्रचारक श्रीसत्यनारायण को दोनो लिपियों और हिंदुस्तानी उर्फ उर्दू का दक्षिण-भारत के हिंदुओं के गले के नीचे उतारने की आज्ञा मिल चुकी है, और इस कार्य को वह बड़ी कुशलता से निबाह रहे हैं। उर्दू-लिपि जो बिलकुल विदेशी है, जिसका कोई अधिकार नहीं है, जो सरासर जबर्दस्ती है, और जिसका बवाल कुछ-कुछ कम हो चला था, अब उसे कांग्रेस सहारा देगी, संपूर्ण भारत को उसे कांग्रेस सिखावेगी, उसका प्रचार हिंदुओं के रुपए से हिंदुस्तानी-प्रचार - सभा करेगी, और हिंदू-प्रांतों में हिंदुओं के बच्चों को सिखावेगी। उर्दू-लिपि को शीघ्र-से-शीघ्र कैसे सिखाया जाय, इसके वर्धा में बड़े-बड़े प्रयोग किए जा रहे हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि यह सब केवल हिंदू कर रहे हैं, मुसलमानों को देवनागरी सीखने की फ़िक्र नहीं सता रही है। हिंदुस्तानी और उर्दू-

---

मुसलमान हिंदुस्तानी का दम भरते हैं। वह एकाध बार इसको साफ़-साफ़ शब्दों में कह भी चुके हैं ; पारसाल ही श्रीबरेलवी ने कहा कि मैं आशा करता हूँ कि शीघ्र ही हिंदुस्तानी और उर्दू समानार्थक शब्द हो जायँगे। अपनी आशा का आधार उन्होंने बनाया 'उर्दू-भाषी हिंदुओं' को। परिस्थिति देखने से मालूम होता है कि उनका सोचना ठीक था। केवल उन्हें 'उर्दू-भाषी हिंदुओं' में गुजराती, तामिल और तेलगू-भाषी हिंदुओं को और शामिल कर लेना चाहिए, जो हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा, हिंदुस्तानी-तालीमी-संघ आदि की पतवारों से हिंदुस्तानी की नैया खे रहे हैं।

लिपि की चर्चा केवल हिंदी और हिंदू-प्रांतों में सुन पड़ती है, पाकिस्तानी प्रांतों में सब शांत है। हिंदुस्तानी-कल्चर-सोसायटी हिंदुओं को उर्दू सिखाने के लिये प्रयाग में बनती है, हिंदुस्तानी का सबसे अधिक ज़ोर बिहार में बाँधा जाता है, क्योंकि वहीं की भाषा सबसे अधिक हिंदी-प्रधान है, और सबसे अधिक हिंदुस्तानी-करण की ज़रूरत रखती है। पंजाब, काश्मीर, हैदराबाद, सीमा-प्रांत, सिंध आदि में सरकारी हुक्म से 'हिंदुस्तानी' चल ही रही है, वहाँ कांग्रेस को और गांधीजी को बोलने की क्या ज़रूरत है, वहाँ पं० सुंदरलाल, डॉ० ताराचंद या अन्य हिंदुस्तानी-कल्चर-सोसायटीवाले लोगों को हिंदी या हिंदी-लिपि सिखाकर क्या करेंगे! आज तक किसी ने पंजाब-सरकार से यह कहने का साहस नहीं किया कि 'हिंदुस्तानी' चलाओ, और दोनो लिपियों को सीखने की सुविधा दो। हैदराबाद की 'हिंदुस्तानी' के विषय में गांधीजी और श्रीराजगोपालाचारी यह नहीं कहते कि हिंदी-लिपि और मान्य हो, तभी 'हिंदुस्तानी' होगी। वहाँ 'हिंदुस्तानी' की केवल एक लिपि अर्थात् उर्दू-लिपि हो सकती है। अभी-अभी सिंध-सरकार ने 'हिंदुस्तानी' मुस्लिमों के लिये अनिवार्य कर दी, और लिपि रक्खी 'सिंधी', "क्योंकि वही सिंधियों के लिये सबसे अधिक सुगम है।" इससे कुछ दिन पहले खबरों में शब्द 'उर्दू' आया था। वह 'हिंदुस्तानी',

जो मुस्लिमों के लिये अनिवार्य की गई है, उर्दू के सिवा और हो ही क्या सकती है; विशेषकर उस पाकिस्तानी प्रांत में। उर्दू का नाम 'हिंदुस्तानी' इसलिये कर दिया गया, जिससे हिंदुस्तानीवालों का आशीर्वाद और समर्थन प्राप्त हो जाय, और हिंदू विरोध न कर सकें। चूँकि सिंधी-लिपि में 'हिंदुस्तानी' साहित्य नहीं मिल सकता, इसलिये शीघ्र ही लिपि भी उर्दू-लिपि कर दी जायगी, और तर्क दिया जायगा- "वही सिंधी से मिलती-जुलती होने के कारण सिंधियों के लिये सबसे अधिक सुगम लिपि है।" वैसे भी सिंधी-लिपि और उर्दू-लिपि में क्या अंतर है? सिंध के शिक्षा-मंत्री श्रीपीर इलाहीबख्श ने यह भी कहा है कि यदि अमुस्लिमों को आपत्ति न हुई, तो 'हिंदुस्तानी' उनके लिये भी अनिवार्य कर दी जायगी। आपत्ति है या नहीं, इसके निर्णायक स्वयं श्रीपीर इलाहीबख्श होंगे। यह निश्चित है कि पीट-पाटकर किसी-न-किसी बहाने से शीघ्र ही अमुस्लिमों के लिये भी अनिवार्य कर दी जायगी। फिर सिंधी को बिलकुल निकालकर वहाँ की राजभाषा और शिक्षा का माध्यम 'हिंदुस्तानी' बनाई जायगी। बस हो गया सिंध भाषा के लिहाज से एक-भाषी अर्थात् उर्दू-भाषी पाकिस्तान का एक अभिन्न अंग। फिर सिंध-सरकार कहेगी कि जब 'हिंदुस्तानी' है ही, तो हिंदुओं को 'हिंदी' पढ़ने की सुविधा देना कैसा? 'उर्दू' को सुविधा भी तो नहीं है। चलिए, 'हिंदुस्तानी' नाम के प्रताप से सिंध

में हिंदी की जड़ ही बिलकुल काट दी गई ! हिंदुस्तानीवाले सिंध-सरकार से कुछ नहीं कहेंगे। उनकी सुनेगा भी कौन ? आज जो सिंध में हुआ है, कल काश्मीर और सीमा-प्रांत में होने जा रहा है। हैदराबाद और पंजाब में ऐसा है ही, बस वहाँ भी शीघ्र ही उर्दू का नाम बदलकर 'हिंदुस्तानी' कर दिया जायगा। इन सब प्रांतों में हिंदी-लिपि को भी स्थान दिलाने के लिये हिंदुस्तानीवालों ने न आज तक मुँह खोला है, न खोलेंगे। 'हिंदुस्तानी को दोनो लिपियाँ' यह नारा केवल हिंदी-प्रांतों के लिये रिज़र्व है। पाकिस्तानी प्रांतों की और हैदराबाद को 'हिंदुस्तानी' का स्वरूप क्या है, और क्या रहेगा, इसे सब जानते हैं। इसका निर्णय वर्धा नहीं करेगा, वे स्वयं करेंगे। वहाँ कांग्रेस की दाल नहीं गलेगी। वहाँ चाहे यूनियनिस्ट सरकार हो, चाहे लीगी सरकार, चाहे शेख़ अब्दुल्ला की सरकार हो, चाहे निज़ाम की, वहाँ वर्धा की हिंदुस्तानी को कोई नहीं पूछेगा। पाकिस्तान की एक लिपि उर्दू-लिपि और एक भाषा हिंदुस्तानी उर्फ़ उर्दू हो गई, अब आप करते रहिए. 'हिंदुस्तान' के प्रांतों में वर्धा की हिंदुस्तानी और दोनो लिपियों की प्रतिष्ठा ! पाकिस्तान की ४० प्रतिशत हिंदू जनता और हैदराबाद की ६० प्रतिशत हिंदू जनता के अधिकारों, सुविधा और संस्कृति की कांग्रेस को या अन्य हिंदुस्तानीवालों को परवा नहीं, वहाँ के हिंदुओं को यदि अपनी मातृभाषा (हिंदी, पंजाबी, सिंधी,

तामिल, तैलगू, मराठी) छोड़कर 'हिंदुस्तानी' के नाम से उर्दू और केवल उर्दू-लिपि क़बूल करने के लिये, उसी के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने के लिये विवश किया जाता है, और 'हिंदुस्तानी' के बहाने से हिंदी तथा हिंदी-लिपि की जड़ काटी जाती है, तो इसकी कांग्रेस, गांधीजी और हिंदुस्तानीवालों को चिंता नहीं, परंतु हिंदी और हिंदू-प्रांतों में वे हिंदुस्तानी के नाम से हिंदी और केवल हिंदी-लिपि कभी न होने देंगे, वहाँ वे हिंदुस्तानी-कल्चर-सोसायटी और हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा की शाखाएँ खोलेंगे, १० प्रतिशत हिंदी-भाषी मुसलमानों की सुविधा के लिये ६० प्रतिशत हिंदुओं पर जबर्दस्ती उर्दू लादेंगे, उनके लिये उर्दू अनिवार्य विषय करेंगे और दोनो लिपियाँ सिखाएँगे, हिंदी-उर्दू दोनो को राजभाषा और शिक्षा का माध्यम बनाएँगे, और ८० प्रतिशत उर्दू और २० प्रतिशत हिंदी को मिलाकर हिंदुस्तानी की त्रिवेणी बहाएँगे, और अपने बहुमत के ज़ोर से उसे सबके ऊपर ठूसेंगे ॐ। यदि बिहार, मध्य प्रांत, युक्त प्रांत,

---

ॐ हिंदी-प्रांतों को छोड़िए, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र आदि के मुसलमानों से भी, जो आज अपनी-अपनी मातृभाषा छोड़कर उर्दू की ज़िद कर रहे हैं, और हिंदु-उर्दू-प्रदेश की-सी समस्या उत्पन्न कर रहे हैं, हिंदुस्तानीवाले यह नहीं कहते कि ऐसा नहीं हो सकता, दो पड़ोसियों की दो भाषाएँ कैसे हो सकती हैं। थोड़ा समय बीत जाने पर उल्टे वे यह कहेंगे कि या तो गुजराती, मराठी

उड़ीसा, बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र में किसी ने यह भी कहा कि यहाँ 'हिंदुस्तानी' की लिपि तो केवल एक देवनागरी हो, क्योंकि यही कैथी जाननेवाले बिहारियों के लिये, हिंदुओं, उड़ियों, बंगालियों, गुजरातियों और मराठियों के लिये सबसे सुगम है, तो उसे सांप्रदायिक और अराष्ट्रवादी घोषित करेंगे। अगर किसी ने गांधीजी से पूछा कि पाकिस्तान में हिंदुस्तानी की दोनो लिपियाँ मान्य क्यों नहीं कराते, तो वह उत्तर देंगे—तुमने सीखा, उन्होंने नहीं सीखा, तुमने पाया, उन्होंने नहीं पाया। जब कोई कहेगा कि आपकी हिंदुस्तानी तो उर्दू है, तो वह कहेंगे—इसको मुसलमान तो हिंदी बतलाते हैं (जैसा कि वह श्रीजिन्ना से गुरु-मंत्र लेकर निःसंदेह गला फाड़-फाड़कर घोषित करेंगे), यही इस बात का प्रमाण है कि यह न हिंदी है, न उर्दू, विशुद्ध हिंदुस्तानी की डुगली है। परिणाम यह हुआ कि संपूर्ण भारत—पाकिस्तान और हिंदुस्तान—की एक लिपि हुई उर्दू-लिपि, क्योंकि पाकिस्तान की लिपि तो वह है ही, सब हिंदुस्तानवाले भी 'हिंदु-

---

और उड़िया का उर्दू से फ़्यूज़न हो या सब जगह उर्दू (हिंदुस्तानी नहीं) भी राजभाषा, शिक्षा का माध्यम बनाई जाय, और सबके लिये उर्दू अनिवार्य कर दी जाय (जैसा कि सुनने में आया है, गांधीजी के शिष्य गुजरातियों ने अभी हाल में कर भी दिया है। कोई आत्महत्या करने पर तुला हो, तो उसे कौन रोक सकता है!)

स्तानी' के प्रताप से जान जायँगे, और 'आमफ़हम', कामन-भाषा हुई हिंदुस्तानी उर्फ़ उर्दू । यह है परिस्थिति, जिसे कोई भी, जिस पर गांधीजी, कांग्रेस, हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा या हिंदुस्तानी का जादू सवार नहीं है, देख सकता है । हिंदी का बिलकुल नाम-निशान मिटाया जा रहा है, इसका नाम ही भुलाया जा रहा है, और उर्दू और उर्दू-लिपि को हिंदुस्तानी के बहाने संपूर्ण भारत की भाषा और लिपि बनाया जा रहा है । यह है हिंदी-उर्दू की समस्या का कांग्रेसी हल ! आश्चर्य नहीं, यदि कल कांग्रेस और गांधीजी हिंदू-मुस्लिम-एकता करने के लिये सब हिंदुओं से मुसलमान हो जाने के लिये कहें, और वर्धा में एक क़ुरान-प्रचार-सभा खुल जाय ।

हम गांधीजी और कांग्रेस से अंतिम बार यह कहना चाहते हैं कि यदि उन्होंने अपना झूँठा हिंदुस्तानी-वाद समाप्त न किया और हिंदी को, जो हमारी सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक है, नष्ट करने का प्रयत्न न छोड़ा, तो जो ज्वाला कांग्रेस की वर्तमान राजनीति के कारण आज हिंदुओं के हृदय में धधकनी आरंभ हो गई है, उसमें एक और आहुति पड़ेगी, और आश्चर्य नहीं, यदि वह कांग्रेस को ही भस्म कर डाले । हमने राष्ट्रीयता की वेदी को अपने जीवन-रक्त से सिंचित किया है, उस पर अपनी कितनी ही बहुमूल्य निधियों का बलिदान किया है, अब हमसे अपनी भाषा का, उसी

भाषा का, जिसने राष्ट्रीयता की मंज़िल में हमारा साथ दिया है, हमें बल प्रदान किया है, और अमर प्रेरणा दी है, बलिदान करने के लिये न कहो, और वह भी उस भाषा की वेदी पर, जिसने सदैव प्रतिक्रिया, सांप्रदायिकता और अराष्ट्रीयता को प्रोत्साहन दिया है। हमसे हमारा प्यारा नाम 'हिंदी' न छीनो। उस नाम के साथ हमारी करोड़ों स्मृतियाँ गुँथी हुई हैं। हमारी भाषा और उसके नाम में वह सब कुछ है, जो आज हम हैं। उसमें हमारा जीवन है, उसके विना हम मर जायँगे, हमारी संस्कृति लुप्त हो जायगी। ताली एक हाथ से नहीं बजती। मेल दो व्यक्तियों में होता है, और वह भी जब दोनो मेल चाहते हों। ऐसा नहीं हो सकता कि मुसलमान-प्रांतों में उर्दू चलती रहे, परंतु हिंदी-प्रांतों में हिंदी निकालकर हिंदी-उर्दू का फ़्यूज़न किया जाय, और हिंदुस्तानी चलाई जाय। जब उर्दू बनी रही, तो हिंदी को नष्ट करने से क्या हुआ, जब उर्दू नाम बना रहा, तो हिंदी नाम भुलाकर 'हिंदुस्तानी' रटने से क्या हुआ, जब मुसलमान-प्रांतों ने 'हिंदुस्तानी' को नहीं अपनाया, तो वह कामन-भाषा कैसे हुई? आज मुसलमान अपने आपको एक पृथक् राष्ट्र घोषित कर रहे हैं, अपने आपको भारतीय कहना भी पसंद नहीं करते, और प्रत्येक भारतीय वस्तु त्याग रहे हैं। आज जब गुजरात, महाराष्ट्र, उड़ीसा, बँगाल आदि प्रांतों के मुसलमान अपनी-अपनी मातृभाषा त्यागकर उर्दू अपना रहे हैं, तो उनसे यह आशा करना

वृथा है कि वे एक ऐसी 'हिंदुस्तानी,' जिसकी शब्दावली वास्तव में हिंदुस्तानी हो, स्वीकार कर लेंगे। जब तक अन्य देशों के मुसलमानों की भाँति भारत के मुसलमान राष्ट्रीयता नहीं सीखते, भारतीय वस्तुओं से प्रेम करना नहीं सीखते, विदेशी आदर्शों, विदेशी उपकरणों और विदेशी शब्दों से अपनी भाषा को सजाना नहीं छोड़ते, तब तक हिंदी और उर्दू का फ्यूज़न नहीं हो सकता, और हिंदी-उर्दू दोनो को स्थान देना पड़ेगा। अगर गांधीजी और कांग्रेस हिंदी को राष्ट्र-भाषा घोषित करने का साहस नहीं कर सकते, तो वे, जिस प्रकार कैनाडा में अँगरेज़ी और फ्रेंच दोनो राष्ट्र-भाषा हैं उसी प्रकार, हिंदी-उर्दू दोनो को भारत की राष्ट्र-भाषा मान लें, हिंदुस्तानी गढ़ने का और उसे ज़बरदस्ती लादने का प्रयत्न करना छोड़ दें, हिंदुस्तानी शब्द का त्याग करके यथास्थान''हिंदी और उर्दू-शब्द का प्रयोग करें, सबको हिंदी या उर्दू पढ़ने की स्वतंत्रता दें, जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ ऐसा कराएँ। सब केंद्रीय विभागों में हिंदी और उर्दू को अपना-अपना प्राप्य स्थान दें और हिंदी-उर्दू-प्रदेश के प्रत्येक शासन-क्षेत्र (Administrative Area) को हिंदी या उर्दू राजभाषा बनाने की स्वतंत्रता दें। परंतु आज की स्थिति देखते हुए यह आशा नहीं होती कि कांग्रेस या गांधीजी इस सत्परामर्श को सुनेंगे। मुझे यह स्पष्ट मालूम देता है कि उन्होंने हिंदी की सुन्नत करने की ठान ली है। इसमें वह अंततः सफल

होंगे या नहीं, यह तो भविष्य के गर्भ में है, परंतु इतना मुझे निश्चित मालूम होता है कि कुछ काल के लिये तो हिंदी अवश्य ही उर्दू से पद-दलित होगी, यदि हम अभी से सचेत नहीं हुए तो। मैं प्रत्येक हिंदी-प्रेमी को चाणक्य के शब्दों में यह चेतावनी देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि सावधान, हमारी सभ्यता और संस्कृति की प्रतीक हिंदी, जिसको हमने एक हज़ार वर्षों से सींच-सींचकर पल्लवित किया है, आज पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है। वह धक्का उर्दू की ओर से आएगा, और उसके प्रवेश करने के लिये हिंदुस्तानी का सिंहद्वार खोलेंगे गांधीजी और कांग्रेस। इसके लिये षड्यंत्र रचा जा रहा है, साधन प्रस्तुत हो रहे हैं। इस समय प्रत्येक हिंदी-लेखक का कर्तव्य है कि वह सजग होकर अपनी कृतियों द्वारा हिंदी की विशुद्धता स्थिर रक्खे, और प्रत्येक हिंदी-प्रेमी का कर्तव्य है कि अपनी मातृभाषा को विकृत होने से बचाए। मैं ब्राह्मण-समाज से विशेष रूप से कहूँगा कि तुमने आर्य-सभ्यता की सदैव रक्षा की है, तुमने समाज को पथ दिखाया है, तुमने कभी शासन नहीं किया, परंतु शासकों का नियमन किया है, तुम्हीं ने इस हिंदी को घोर दुर्दिन में सुरक्षित रक्खा है, आज भी सोए न रहो, तुम पर आज फिर कर्तव्य का विशेष भार है; यदि तुम भी चूक गए, तो फिर उद्धार नहीं। मैं प्रत्येक हिंदी-प्रेमी को निमंत्रण देता हूँ कि वह हिंदी के स्वरूप की रक्षा में तत्पर हो, और चाणक्य

के समान शिखा खोलकर प्रतिज्ञा करे कि जब तक वह हिंदुस्तानी की बला का समूल नाश न कर देगा, चैन से न बैठेगा।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

उर्दू के मुक़ाबले में हिंदी अन्य भारतीय भाषाओं के कितनी अधिक निकट है, और हिंदी की संस्कृतज शब्दावली का क्या महत्त्व है, यह भारत के भाषा-चित्र से जाना जा सकता है। इंडो-एरियन-वर्ग की भाषाएँ असमी, बँगला, उड़िया, हिंदी, गुजराती और मराठी तो अपने गंभीर शब्द संस्कृत से लेती ही हैं (और इसलिये इन भाषा-भाषियों के लिये मध्य देश की भाषा हिंदी स्वाभाविक कामन-भाषा है), दक्षिण की भाषाओं तामिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम का क्या हाल है, यह डॉ॰ चटर्जी के शब्दों में सुनिए—"तामिल में धातुओं और शब्दों के विषय में उसका प्राचीन द्राविड़ स्वरूप सबसे अधिक सुरक्षित है, परंतु ये चारो भाषाएँ गंभीर शब्दों के लिये भारत की प्राचीन और धार्मिक भाषा संस्कृत की शरण निर्विरोध लेती हैं। इनकी संस्कृत-शब्दावली उर्दू को छोड़कर उत्तर की सब प्रमुख साहित्यिक भाषाओं और इन द्राविड़ भाषाओं के बीच में एक प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करती

हैं *।" चूँकि दक्षिण-निवासियों के लिये उत्तर की एक साहित्यिक भाषा सीखना आवश्यक है, उनके लिये भी हिंदी से बढ़कर उपयुक्त कोई दूसरी भाषा नहीं हो सकती। आधुनिक पंजाबी, सिंधी, काश्मीरी और पश्तो अधिक महत्त्व नहीं रखतीं, क्योंकि ये उन्नत साहित्यिक भाषाएँ नहीं हैं। इन भाषाओं के क्षेत्र में उर्दू और हिंदी ने आधिपत्य जमा लिया है या जमा रही हैं, और इन भाषाओं के बोलनेवालों ने सार्वजनिक जीवन और साहित्यिक कार्य के लिये उर्दू और हिंदी को अपना लिया है या अपना रहे हैं। इसलिये इन भाषाओं पर अलग से विचार करना बेकार है। देखना यह है कि उर्दू के मुक़ाबले हिंदी अन्य उन्नत भारतीय भाषाओं के, जिनका अपने-अपने क्षेत्र में एकाधिपत्य है, कितनी निकट है। फिर भी, काश्मीरी पर संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है†। और, वह देवनागरी के ही एक रूप शारदा-लिपि

---

* 'Tamil has preserved the old Dravidian character best, in roots and in words, but all these four freely go to the Aryan Sanskrit, the classic and religious language of India, for words of higher culture. Their Sanskrit vocabulary furnishes these Dravidian speeches with a manifest common platform with all the great literary languages of the north, excepting Urdu "

† "Kashmiri is a Dardic speech profoundly influenced by Indo-Aryan and Sanskrit,"—Dr. chatterij

(देखिए परिशिष्ट ४, उद्धरण (३))

में लिखी जाती है। पंजाबी तो हिंदी की बहन है। पंजाब-सरकार के संरक्षण में, सन् १८६५ में, प्रकाशित पंजाबी-कोष की भूमिका में संग्रहकर्ता भाई मायासिंह लिखते हैं—"पंजाबी अपनी सहोदरा हिंदी से मिलती-जुलती है, क्योंकि दोनो संस्कृत और प्राकृत से निकली हैं।"*

कथित पंजाबी की शब्दावली; पंजाबी का प्राचीन और सिक्खों का धार्मिक साहित्य हिंदी-साहित्य की भाँति संस्कृत-निष्ठ हैं। पंजाबी की वास्तविक लिपि गुरुमुखी भी देवनागरी का ही रूपांतर है। पंजाबी का अरबी-फ़ारसी की ओर झुकाव और उसका पंजाबी-भाषी जनता के एक भाग द्वारा उर्दू लिपि में लिखा जाना तो कल की बात है, वास्तव में पंजाबी बोलनेवालों के लिये उर्दू की अपेक्षा हिंदी अधिक स्वाभाविक साहित्यिक भाषा है। सिंधी पर यद्यपि अरबी और फ़ारसी की एक छाप लगी हुई है, और वह अब फ़ारसी-लिपि में लिखी जाती है, फिर भी सिंधी संस्कृत के और सब भारतीय भाषाओं के मुक़ाबले अधिक निकट है। सिंधी सन् १८५७ से पहले तक देवनागरी में लिखी जाती थी। देवनागरी में लिखी हुई सिंधी की सैकड़ों प्राचीन पुस्तकें सिंध के पुस्तकालयों में अब भी सुरक्षित हैं। सन् १८५७ में सिंध के खोजा शासकों ने सिंधी की वर्तमान लिपि को प्रच-

* "Punjabi is akin to to its sister Hindi, both being derived from the Sanskrit and the Prakrit."
(देखिए परिशिष्ट ४, उद्धरण (२))

लित किया। भाषा और शब्दों के मामले में, सिंधी में अरबी-शब्द तो सिंध की लीगी सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा (इस विषय में डॉ० दौडपोटा का नाम विशेष उल्लेखनीय है) जबर्दस्ती अब ठूँसे जा रहे हैं; सिंध के कालिदास शाह अब्दुललतीफ़ (१६८६-१७५२) ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'रिसालो' में संस्कृत-शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है—उनके काव्य में प्रयुक्त कुल २०,००० शब्दों में से १२,००० से अधिक शब्द संस्कृत के हैं।

बंगाल से सीमा-प्रांत तक और काश्मीर से कन्याकुमारी तक संपूर्ण भारत में संस्कृत की इसी व्यापकता को देखकर प्रोफ़ेसर मैक्समुलर ने कहा है—"भारत के भूतकाल को वर्तमान काल से एक ऐसी चकित करनेवाली अटूट शृंखला जोड़ती है कि कितने ही सामाजिक उथल-पुथल, धार्मिक सुधार और विदेशी आक्रमणों के बाद भी केवल संस्कृत ही एक अकेली ऐसी भाषा है, जिसके बारे में यह कहा जा सकता है कि वह इस विशाल देश में एक छोर से दूसरे छोर तक बोली जाती है। मेरा ख़याल है, सौ वर्ष लंबे अँगरेज़ों और अँगरेज़ी के राज के बाद आज भी संस्कृत भारत में उससे अधिक समझी जाती है, जितनी दांते के समय में लैटिन योरप में समझी जाती थी *।"

* "Yet such is the marvellous continuity between the past and the present in India, that in spite of

लिपि के मामले में भी संस्कृत की लिपि होने के कारण हिंदी-लिपि देवनागरी का महत्त्व और व्यापकता स्पष्ट है। वैसे भी आधुनिक भारतीय लिपियों का देवनागरी से क्या संबंध है, यह पहले बतलाया जा चुका है (देखिए पृष्ठ १८)। उर्दू-लिपि का व्यवहार करनेवालों की संख्या तीन करोड़ से अधिक नहीं है, और उनमें से अधिकांश पश्चिमोत्तर भारत में सीमित हैं, परंतु देवनागरी (विशुद्ध) का व्यवहार करनेवालों की संख्या कम-से-कम १४ करोड़ है। उर्दू और सिंधी छोड़कर मुसलमान स्वयं उर्दू-लिपि में नहीं लिखते। भारत के कम-से-कम आधे मुसलमान देवनागरी या देवनागरी के किसी रूप में लिखते हैं। गुजराती, बँगला, उड़िया-लिपि और गुरुमुखी, डोगरा-लिपि तथा शारदा जाननेवालों के लिये विशुद्ध देवनागरी सीखना कुछ घंटों का काम है। दक्षिण की भाषाओं की वर्ण-माला का उच्चारण भी देवनागरी के समान

---

repeated social convulsions, religious reforms and foreign invasions, Sanskrit may be said to be still the only language that is spoken over the whole extent of that vast country, Even at the present moment, after a century of English rule and English teaching, I believe that Sanskrit is more widely understood in India than Latin was in Europe at the time of Dante.'—'Prof. Max Muller in India: What can it teach us?

है, और इसलिये दक्षिण-निवासियों के लिये भी देवनागरी सीखना सबसे सरल है। और बातों में भी उर्दू लिपि के मुक़ाबले देवनागरी की श्रेष्ठता का विवेचन पृष्ठ १८ और 'पं० सुंदरलाल और हिंदुस्तानी'-शीर्षक लेख में किया गया है।

परिशिष्ट २

हिंदी और उर्दू के इतिहास के विषय में उर्दू और हिंदुस्तानी के समर्थकों द्वारा इतनी भ्रामक बातें कही जाती हैं और कही जा रही हैं कि डॉ० चटर्जी की पुस्तक से निम्न-लिखित उद्धरण ज्यों-के-त्यों धर देना अनुचित न होगा—

"The Turki Muslim court and its entourage at Delhi used (when they did not speak Persian or Turki) the local dialect of Delhi, which happened to agree with the Panjabi dialects in some important matters. In this way, the speech of Delhi, with a certain amount of influence from the Panjab dialects, developed into a language of some importance. Persian words naturally began to have a place in it, though at first there was no conscious attempt to Pesianise the Indian language. At first there was no literary cultivation of it."

"North Indian Muslims speaking Panjabi and other dialects began to settle in the Deccan as a ruling class from the 14th century onwards, and at Golconda and Bijapur and elsewhere they developed a literary language (16th

century), independently of north India, using as its basis Panjabi and other dialects running close to the speech of Delhi. This came to be known as *Dakani* or *Dakni*, the Deccan or Southern speech, which was thus a *colonial speech* set up as a literary language. From the beginning, it employed the Persian script, and its vocabulary, at first purely Indian (vernacular Hindi and Punjabi, and Sanskrit), gradually became more and more Persianized. Dakni slowly took Persian literature as its model, both in subject-matter and style. Towards the end of the 17th century, the example of this Dakni speech reacted on the language of Delhi. The Delhi speech, equally with Braj-bhakha and other north Indian dialects, was called, in a general way, from the days of the first Turki conquerors of India using Persian, the ***Hindi*** or 'Indian' speech, or ***Hindawi*** or ***Hindwi*** i. e. 'the Hindu speech'. When it was taken to the Deccan by the Mogul armies in the 17th century, it acquired the name of *Zaban-e-Urdu-e-Mualla*, 'the language of the exalted camp' or 'court,' which in the second half of the 18th century became shortened to *Zaban-e-Urdu*, and simply *Urdu*.

North Indian Muslims discovered the possibilities of this Delhi speech by emulating Dakni, and Urdu as a language for literary purposes then came into being in the 18th century. It is thus an Indian speech using the Persian script, preferring a Persianized vocabulary and seeking inspiration from Persian literature and the atmosphere of Islamic faith and culture. The Moguls had up to this time cultivated and encouraged Brajbhakha, although latterly they spoke the Delhi speech. In Persianizing the vocabulary of this Delhi speech, foreign Muslims tooka leading part in the second half of the 18th century. Quite a movement was started to restrict its native Hindi and Sanskrit words With this orientation, Urdu came to be established as the 'Muslim' form of a Western Hindi speech. It was a necessary cultural and spiritual compensation for the loss of Muslim political power in the 18th-19th centuries through the rise of the Marathas, the Sikhs and the British. North Indian Urdu has now ousted Dakni, and is used by the Muslim ruling class in Hyderabad State, which has become an active patron of it".

"The Hindus of the Western Hindi districts and elsewhere were familiar with the Delhi speech, and when they took to writing in it they maintained the natural leaning for its native Hindi and Sanskrit words, and employed the natine Indian Nagri script. In their hands this Hindu form became what may be called *Nagari-Hindi*, or *High. Hindi* (to give its familiar name in English), also during the second half of the 18th century. The old name *Hindi* or *Hindwi*, latterly only *Hindi*, came to be restricted to this Hindu from of the language."

"Like almost all New Indo-Aryan speeches, Hindi or Hindustani is a *borrowing* speech, not so much a *building* one. Sanskrit is its natural source for borrowing, as much as Latin is for French and Italian. But the Muslims of foreign origin, with the *conquistador* spirit, had no knowledge of or use for Sanskrit, and Persian was for them the familiar Islamic speech with its plethora of Arabic words and its Arabic script. Muslims of Indian origin also took up this ideal, particularly in the centres of Muslim power and culture, but they did so after some centuries of hesitation. It

was not so easy to adopt a foreign orientation so quickly. A few Hindus connected with the Muslim courts also accepted (at first in their official life) this new tradition."

"In this way, out of the same language grew two literary speeches, alien to each other in script and in higher vocabulary: and they started their rival careers as soon as they developed prose literatures, under English anspices in Calcutta from the very first decade of the 19th century, and began to be employed in schools and in public life."

ऊपर के उद्धरणों की रोशनी में पं० सुंदरलाल के कथन, विशेषकर पिछली दो-तीन पीढ़ियों में एक ओर संस्कृत और दूसरी ओर अरबी-फारसी-शब्दों से द्वेषवाली बात, की सत्यता का निर्णय आसानी से किया जा सकता है। अगर द्वेष था ही, तो दोषी कौन है, यह भी स्पष्ट है। आज भी देशज और संस्कृत-शब्दों के प्रति उर्दू की नीति, और प्रचलित, घुले-मिले अरबी-फारसी-शब्दों के प्रति हिंदी की नीति में जो अंतर है, वह पहले बतलाया जा चुका है। ऊपर के उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि वह 'खड़ी बोली' (और लिपि) जो पहले एक थी, और जो अब तक उसी रूप में चली आ रही है, कौन-सी है, अर्थात् हमें फिर एक हो जाने के लिये किस खड़ी बोली पर सहमत होना है, यदि राष्ट्र की एकता के लिये

राष्ट्र में केवल एक ही खड़ी बोली का होना अनिवार्य है, तो।

[उर्दू की उत्पत्ति पर गोआ (Goa) (जो पुर्तगाल के अधिकार में है) की भाषा-स्थिति से बड़ी दिलचस्प साइडलाइट पड़ती है। गोआ की दस लाख आबादी में से लगभग छ लाख अब तक ईसाई बनाए जा चुके हैं, और शेष हिंदू हैं। हिंदुओं की मातृभाषा कोंकणी है, और सांस्कृतिक भाषा वे मराठी मानते हैं। ईसाई कोंकणी को मातृभाषा और पोर्चुगीज़ या फ्रेंच को सांस्कृतिक भाषा मानते हैं। परंतु ईसाई कोंकणी देवनागरी के बजाय (हिंदू देवनागरी में ही लिखते हैं) रोमन-लिपि में लिखते हैं, उनकी कोंकणी में देशज और संस्कृत-शब्दों के बजाय पोर्चुगीज़ और फ्रेंच शब्दों की भरमार है, और उनके गीतों की भाषा कोंकणी और तर्ज़ योरपीय ढंग के होते हैं। "किसी ईसाई को गाते समय दूर से सुना जाय, तो ऐसा लगता है, जैसे कोई योरपीय गा रहा हो। पास पहुँचने पर भाषा और तर्ज़ का अजीब संगम देखने को मिलता है।" कोंकणी के स्थान पर खड़ी बोली हिंदी रख दीजिए, रोमन-लिपि के स्थान पर फ़ारसी-लिपि, पोर्चुगीज़ और फ्रेंच के स्थान पर फ़ारसी और अरबी, मराठी के स्थान पर व्रज-भाषा रख दीजिए, और पुर्तगाल के बजाय मुग़लों के शासन-काल में चले चलिए, उर्दू का पूरा इतिहास आँखों के सामने आ जायगा।

यह भी निश्चित है कि यदि कल गोआ में पुर्तगाल का शासन खत्म हो जाने और भारत में सम्मिलित किए जाने से पोर्चुगीज़ और फ्रेंच का वर्तमान प्रभुत्व समाप्त हो जाय, तो वहाँ के ईसाई अपनी इसी रोमन-लिपि में लिखित कोंकणी को विकसित कर उसे अपनी सांस्कृतिक भाषा मानने लगेंगे, उसे शिक्षा का माध्यम (इस समय शिक्षा का माध्यम पोर्चुगीज़ और फ्रेंच है) और राजभाषा बनाएँगे, और यदि उनकी चली, तो इसी को (रोमन-लिपि-सहित) वहाँ के हिंदुओं पर लादने का प्रयत्न करेंगे, परंतु यदि हिंदू संख्या में कम होने के कारण दब न गए, तो वे अपनी भाषा की परंपरा और लिपि को अक्षुण्ण रक्खेंगे, और अपनी भाषा को स्वाभाविक रूप से विकसित करेंगे। ईसाइयत का जामा पहने हुई कोंकणी का वास्तविक कोंकणी के सामने कोई महत्त्व न होगा, न दोनो का 'फ़्यूज़न' संभव या उचित होगा, न पोर्चुगीज़ और फ्रेंच को संस्कृत के समान स्थान मिल जायगा, और न रोमन-लिपि देवनागरी के साथ बिठाई जा सकेगी।

गोआ के दृष्टांत से इस बात की भी पुष्टि हो जाती है कि यदि हिंदी-प्रदेश में यथेष्ठ संख्या में भारतीय ईसाई (nIdian ChriStians) एक जगह इकट्ठे हो जायँ, तो वे 'बाबू हिंदुस्तानी' रोमन-लिपि में लिख डालें, उसके लिये न संस्कृत से शब्द लें न अरबी-फ़ारसी से, बस अँगरेज़ी

से लें, और अँगरेजों का शासन और अँगरेजी का प्रभुत्व समाप्त होने पर उसी को विकसितकर अपनी सांस्कृतिक भाषा, शिक्षा का माध्यम आदि बनाएँ। उस समय तीन खड़ी बोलियाँ-हिंदी, उर्दू और 'बाबू हिंदुस्तानी' (या इँगलिस्तानी) और तीन लिपियाँ—देवनागरी, फ़ारसी और रोमन—हो जायँ, और यदि पं० सुंदरलाल के वंशज तीनो को 'फ़्यूज़' करके वास्तविक 'त्रिवेणी' और उसकी तीन लिपियों की गुहार लगाएँ, अथवा गांधीजी के शिष्य 'राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी' की तीनो 'शैलियों', तीनो लिपियों और तीनो साहित्यों को सीखने के लिये प्रत्येक भारतीय से कहें, तो आश्चर्य न होगा।]

परिशिष्ट ३

अरबी और फ़ारसी मुसलमानों की सांस्कृतिक या पवित्र भाषाएँ हो सकती है, परंतु सांस्कृतिक या पवित्र भाषा का प्रचलित या मातृभाषा से कोई संबंध नहीं होता। मुसलमानों को 'अरबी-फ़ारसी' पढ़ने से कोई नहीं रोकता, किंतु अरबी-फ़ारसी के शब्द हिंद की राष्ट्र-भाषा में किस सिद्धांत के अनुसार मिलाए जायँ? फ़ारस या तुर्की के मुसलमानों ने फ़ारसी और तुर्की में फ़ारसी और तुर्की-शब्द निकालकर अपनी पवित्र भाषा अरबी के शब्द तो नहीं मिलाए। तुर्की के मुसलमान तो अब क़ुरानशरीफ़ भी तुर्की-भाषा में पढ़ते हैं, और तुर्की की मसजिदों में मुल्ला भी क़ुरानशरीफ़ का तुर्की अनुवाद ही पढ़ते हैं। रूस और चीन के मुसलमान भी रूसी और चीनी में अरबी-शब्द नहीं मिलाते, न मिलाने की ज़िद करते हैं। आज दुनिया-भर में ईसाई फैले हुए हैं, उनकी पवित्र भाषा ग्रीक (न्यू टेस्टामेंट) या हेब्रू (ओल्ड टेस्टामेंट) हैं, मगर वे अपनी मातृभाषाओं में ग्रीक या हेब्रू के शब्द नहीं मिलाते, न यह ज़िद करते हैं कि उनकी जन्म-भूमियों की राष्ट्र-भाषाओं में इन भाषाओं का प्रतिनिधित्व हो। फिर हिंद की राष्ट्र-भाषा हिंदी में ही अरबी-फ़ारसी-शब्द

मिलाने का क्या कारण है, और वह भी हिंदी के शब्द निकाल-निकालकर ? हिंदी को भी केवल अपने स्वाभाविक स्रोत संस्कृत से शब्द क्यों नहीं ग्रहण करने दिया जाता ? हिंदी में जिस प्रकार अनावश्यक अँगरेज़ी-शब्द नहीं लिए जा सकते, उसी प्रकार अरबी-फ़ारसी के अनावश्यक शब्द नहीं लिए जा सकते। अगर परिस्थितियों ने उर्दू को बना दिया है, और मुसलमान उसे चाहते हैं, तो उन्हें उर्दू मुबारक हो, वह भी अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति एक भारतीय भाषा है, परंतु उसे देश-भर पर राष्ट्र-भाषा के रूप में कैसे लादा जा सकता है, अथवा उसका राष्ट्र-भाषा से कैसे समन्वय किया जा सकता है ? अन्य भारतीय भाषाओं का भी तो समन्वय राष्ट्र-भाषा से नहीं किया जा रहा है। अधिकांश भारतीय मुसलमान हिंदुओं के वंशज हैं, और वे सदा से हिंदुओं की ही भाषाएँ बोलते आ रहे हैं। उनकी मातृभाषा अरबी या फ़ारसी कभी नहीं थीं, आज तो नहीं हैं ही। यदि आज उनकी मातृभाषा अरबी या फ़ारसी होती, तब भी जिस भारतीय भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाया जाता, उसके शब्दों को निकालकर उसमें अरबी-फ़ारसी-शब्द नहीं भरे जा सकते थे, और न उसके स्वाभाविक स्रोत का स्थान अरबी-फ़ारसी को आंशिक रूप से भी दिया जा सकता था। मुसलमानों को ख़ुश करने के लिये हिंदुस्तानीवाले चाहे जो कुछ करें, परंतु न्याय और औचित्य उनसे कोसों दूर है। वास्तव में जिस

प्रकार राजनीति में श्रीजिन्ना की मिज़ाजपुरसी गांधीजी और कांग्रेस ने यहाँ तक की कि लेने के देने पड़ गए हैं, उसी प्रकार इस मामले में भी मुसलमानों को इन्हीं हिंदुस्तानीवालों अर्थात् कांग्रेस और गांधीजी ने सिर पर चढ़ाया है, और राष्ट्रीयता की दुहाई देकर राष्ट्र-भाषा के सीधे-सादे मसले को एक जटिल, सांप्रदायिक समस्या का रूप दे दिया है। हिंदी-उर्दू-विवाद का कुल उत्तरदायित्व हिंदुस्तानीवालों के सिर पर है।

अभी हाल में हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा के मंत्री श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने विद्यार्थियों को १४ उपदेश देते हुए एक उपदेश में कहा है कि सबको हिंदी-उर्दू-विवाद की परवा न कर हिंदुस्तानी की दोनो शैलियाँ और दोनो लिपियाँ सीख लेनी चाहिए। हमें हिंदी-उर्दू-विवाद की परवा न करने का उपदेश देना कटे पर नमक छिड़कना है। इस विवाद का क्या कारण है, और इसके लिये कौन उत्तरदायी है, यह हिंदुस्तानीवालों को भली भाँति विदित है। यदि न मालूम हो, तो उनकी जानकारी के लिये हम नीचे ऐसे व्यक्तियों के भाषणों और लेखों से कुछ उद्धरण देते हैं, जिन्हें अपने विषय पर बोलने का अधिकार है (इन बातों की ओर संकेत पहले किया जा चुका है)—

(१) हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के २६वें अधिवेशन (१६४०) के सभापति-पद से दिए श्रीसंपूर्णानंद के भाषण से उद्धृत—

"प्रत्यक्ष रूप से उर्दू या अप्रत्यक्ष रूप से कृत्रिम असार्वजनीन हिंदुस्तानी के नाम पर हिंदी का विरोध करनेवाले तर्क से बहुत-दूर हैं। हैदराबाद की भाषा इसलिये उर्दू है कि वहाँ का राज-

वंश मुस्लिम है, और काश्मीर की भाषा इसलिये उर्दू है कि वहाँ की प्रजा में अधिक संख्या मुसलमानों की है। पंजाब में उर्दू इसलिये पढ़ानी चाहिए कि वहाँ ५५ प्रतिशत मुसलमान हैं, और बिहार में इसलिये पढ़ानी चाहिए कि मुसलमान १२ प्रतिशत भी नहीं हैं। यह भाषा नहीं, सांप्रदायिकता का प्रश्न है *। हम सबको इस बात का अनुभव है कि किसी भाषण में जहाँ कोई संस्कृत का तत्सम शब्द आया नहीं कि उर्दू के हामी बोल उठते हैं—साहब, आसान हिंदुस्तानी बोलिए, हम इस ज़ुबान को नहीं समझते। परंतु हिंदी-प्रेमी क्लिष्ट, अरबी-फ़ारसी-शब्दों की बौछार को प्रायः चुपचाप सह लेते हैं। हिंदुस्तानी नामधारी उर्दू के समर्थकों का द्वेष-भाव कहाँ तक जा सकता है, उसका एक उदाहरण देता हूँ। अभी थोड़े दिन हुए, राष्ट्रपति अबुलकलाम आज़ाद को प्रयाग-विश्वविद्यालय के छात्रों की ओर से एक मानपत्र दिया गया। उस पर उर्दू के समर्थकों के मुखपत्र 'हमारी ज़ुबान' ने एक लंबी व्यंग्यमयी टिप्पणी लिखी। उसने उन शब्दों को

---

* किसी हिंदू के हिंदू या भारतीय संस्कार नष्ट कर उसे अपनी संस्कृति से विमुख और विदेशी बनाने का सबसे सरल नुस्खा यही है कि उसे उर्दू के सिवा किसी अन्य भारतीय भाषा की शिक्षा न दी जाय। सब भारतीय भाषाओं में से केवल उर्दू का ही साहित्य और वातावरण ऐसा है, जिसमें आम तौर से हिंदू या भारतीय संस्कृति को कोई स्थान नहीं।

रेखांकित किया, जो उसकी सम्मति में हिंदुस्तानी में न आने चाहिए। यह कहना अनावश्यक है कि ये शब्द संस्कृत से आए हुए थे। यह बात तो कुछ समझ में आती है। यह भी कुछ-कुछ समझ में आता है कि इन लोगों की दृष्टि में अरबी और फ़ारसी से निकले हुए दुरूह शब्द सरल और सुबोध हैं। पर विचित्र बात यह है कि मानपत्र का अँगरेज़ी का कोई शब्द भी रेखांकित नहीं है। यह द्वेष-भाव की मर्यादा है। जिस हिंदुस्तानी में अँगरेज़ी को स्थान हो, पर संस्कृत के शब्द छाँट-छाँटकर निकाल दिए जानेवाले हों, वह देश की राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती।"

(परंतु हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा की हिंदुस्तानी-कोष-कमेटी के सदस्य, जो (काका कालेलकर को छोड़कर) 'हिंदुस्तानी नामधारी उर्दू' के समर्थक हैं, पारिभाषिक और अन्य शब्द अरबी-फ़ारसी से लेने में कठिनाई पड़ने पर अँगरेज़ी से ही लेंगे।)

(२) हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के ३२वें अधिवेशन (१६४४) के सभापति-पद से दिए गोस्वामी गणेशदत्त के भाषण से उद्धृत—

"मुग़ल-काल में दिल्ली की 'अंजुमन उर्दू' ने जो काम अपने हाथ में लिया था, आज उसका ठेका भारतीयों के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाली भारत-सरकार और उसकी प्रांतीय एवं कुछ रियासती 'पुत्रियों' ने ले रक्खा है। भारत-सरकार

का घोषक आल इंडिया रेडियो हिंदुस्तानी की आड़ में एक ऐसी भाषा ठूँसने का प्रयास तन-मन-धन से कर रहा है, जो इस देश के अधिकांश निवासियों से कोई संबंध नहीं रखती। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर वह 'आदाबअर्ज़' करता है, और फिर जो समाचार आदि सुनाता है, उसके सब पारिभाषिक शब्द विदेशों की भाषाओं से उधार लिए होते हैं। घोषणाएँ सब-की-सब उर्दू में की जाती हैं—मराठी, गुजराती और पंजाबी के कार्यक्रमों की सूचना तक उर्दू में दी जाती है। चिट्ठियों के उत्तरों के लिये भी रेडियो को यही भाषा प्रिय है, और स्त्रियों एवं बच्चों का मनोरंजन भी वह इसी भाषा द्वारा करता है। 'बहन' कहने में उसे लज्जा आती जान पड़ती है, इसलिये 'आपा' की शरण लेता है। संवादों आदि में ८५ प्रतिशत उर्दू के खज़ाने से आते हैं, और शीर्षकों में भी 'बज़्मे-तसव्वर', 'जलीलुलक़द्र' और 'कैफ़ोनिशात' विराजमान रहते हैं। उच्चारण इतना भ्रष्ट होता है कि भूल-चूक से हिंदी का व्रत, प्रेम, कथन देश, और विदेश-जैसा साधारण शब्द भी आ जाता है, तो उसकी कपाल-क्रिया हो जाती है। इस देश की सभ्यता और संस्कृति का वह इतना बड़ा जानकार है कि हुमायूँ तो फ़ारसी में बोलते हैं, परंतु इंद्र मदन को 'ज़रा इधर आना' कहकर बुलाते हैं। भगवान् शिव के 'कैलास' में वह 'इश्क़े पेंचा' तक का आविष्कार कर लेता है, और

भगवती पार्वती को आज की कॉलेज-गर्ल से पृथक् नहीं समझता।

डाक-विभाग भी भारत-सरकार के अधीन है, और हिंदी पर उसकी अद्भुत कृपा से आप सब परिचित हैं। जिन पत्रों पर केवल हिंदी में पता लिखा जाता है, उन्हें वह पत्रों के 'मुर्दाघर' में भेजकर मौलवी अब्दुल हक़के इस कथन पर अपनी मुहर लगाना चाहता है कि हिंदी तो मुर्दा भाषा है। आश्चर्य यह है कि राजस्थान और संयुक्त प्रांत के पत्रों के लिये मदरास का मुर्दाघर चुना गया है!

भारत-सरकार के सूचना और ब्रॉडकास्टिंग-विभाग की ओर से अँगरेज़ी पत्रों को ३,६१,२५४ रुपए के, हिंदी-पत्रों को ५४,६१० रुपए के और उर्दू-पत्रों को ८५,४१४ रुपए के विज्ञापन दिए गए हैं। यह समाचार भी आपने सुना ही है कि सिपाहियों को शिक्षित करने के लिये सरकार ने जो योजना बनाई है, उसके अनुसार राष्ट्र-लिपि के नाम पर रोमन-लिपि और राष्ट्र-भाषा के नाम पर उर्दू पढ़ाई जा रही है। यह भी आपसे छिपा नहीं है कि सन् ४१ की जन-गणना में भाषाओं-संबंधी जानकारी प्राप्त करने की एक ही नीति नहीं बरती गई, इसीलिये जन-गणना की रिपोर्ट से भाषा के प्रश्न का कोई निर्णय कर लेना सरल काम नहीं रह गया। और, रुपए में हिंदी को स्थान नहीं मिला। इन सब बातों से भारत-सरकार का वह प्रेम ही टपक रहा है, जो वह जनता की भाषा को दे रही है।

प्रांतों में —

अब प्रांतीय सरकारों की ओर देखिए। पंजाब अहिंदी-प्रांत नहीं है। हिंदी की ही एक शाखा पंजाबी इसकी मातृ-भाषा है। यहाँ के हिंदू सिख संत और कवि शुद्ध हिंदी में एवं मुसलमान संत और कवि पंजाबी में अपने भावोद्गार प्रकट करते रहे हैं। मेरे दोस्त मियाँ बशीरअहमद साहब मानते हैं कि ब्रिटिश शासन के आरंभ में उर्दू को भी पंजाब की शिक्षा का माध्यम बनाया गया है, और यह भी एक तथ्य है कि ब्रिटिश शासन के प्रारंभ में ही बंदोबस्त करने के लिये कुछ लोग यू० पी० से पंजाब आए, बंदोबस्त उर्दू में हुआ, और वह अदालती भाषा भी बन गई। १८८० में शिक्षा-संबंधी जाँच करने के बाद पंजाब प्रांतीय कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि सतलुज और जमुना के बीच में नागरी में, मध्य पंजाब में गुरुमुखी में, एवं उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत में बलोची और पश्तो में शिक्षा दी जाय। कमेटी ने यह भी कहा कि उर्दू-भाषा फ़ारसी-लिपि के स्थान पर देवनागरी- लिपि में पढ़ाई जाय तो अधिक सुविधा होगी। इस सत्परामर्श पर कोई ध्यान नहीं दिया गया, इसीलिये यूनिवर्सिटी-जाँच-कमेटी को हिंदी, उर्दू और पंजाबी शिक्षा के माध्यम के रूप में मिलीं, और उसने अपनी रिपोर्ट में तीनो भाषाओं को माध्यम के रूप में स्वीकार किया। अब माननीय शिक्षा-मंत्री महोदय उर्दू को पंजाब की मातृभाषा कहते हैं,

और एक ही भाषा को—जिसके नाम की माला वह अपने मन में ही जप रहे हैं—शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं। इसीलिये पंजाब में लड़कों के लिये जो सरकारी और बोर्डों आदि के स्कूल हैं, उनमें हिंदी माध्यमवाले स्कूलों की संख्या दो-एक उँगलियों पर ही समाप्त हो सकती है। कांगड़ा और अंबाला डिवीज़न में भी उर्दू का बोलबाला है। लड़कियों के स्कूलों में हिंदी माध्यम की सुविधा है, परंतु माननीय मित्रों को वह भी रुचिकर नहीं जान पड़ती। पिछले दिनों में अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा-बिल नाम की जो योजना क़ानून बनी है, उसमें सहशिक्षा को स्थान देकर इस सुविधा को भी छीनने की चेष्टा की गई है। स्वर्गीय सर सिकंदर ने हिंदी-प्रेमियों को आश्वासन देते हुए कहा था कि इस क़ानून में भी पूर्वावस्था स्थिर रहेगी, परंतु यह वचन उनके साथ ही चला गया जान पड़ता है। कठोर सत्य यह है कि जिस व्यक्ति ने स्कूल में अपना बच्चा न भेजकर स्वतंत्र रूप से हिंदी पढ़ाने की चेष्टा की है, उसे जुर्माना हुआ है, और शाहपुर में हिंदी पढ़नेवाली कन्याओं के मार्ग में इस दलील के साथ रोड़ा अटकाया जा सकता है कि उर्दू पढ़नेवाली लड़कियों की संख्या कम है, अर्थात् जब तक उनकी संख्या बराबर न हो जाय, तब तक हिंदी पढ़नेवाली लड़कियाँ प्रतीक्षा करें। अब शिक्षा-मंत्री महोदय हिंदी को द्वितीय भाषा के स्थान पर देखकर भी पीड़ित होते जान

पड़ते हैं, और इसे फ़ारसी जैसी धार्मिक भाषा बनाना चाहते हैं।

पंजाब-युनिवर्सिटी का नाम पहले ओरियंटल-युनिवर्सिटी था। जब मैं विद्यार्थी था, तब इस नाम की कुछ सार्थकता भी थी। अब युनिवर्सिटी प्रतिवर्ष हिंदी-परीक्षाओं से ५०-६० हज़ार रुपए पैदा करती है, परंतु हिंदी और संस्कृत के साथ जो व्यवहार करती है, वह दुख ही देता है।

सीमा-प्रांत में एक बार हिंदी और गुरुमुखी पर प्रहार हो चुका है, परंतु वह सफल नहीं हुआ। बिलोचिस्तान के ३४ प्रतिशत व्यक्ति बलोची, २७ प्रतिशत पश्तो, १८ प्रतिशत सिंधी और ४ प्रतिशत लंहदा बोलते हैं; परंतु वहाँ की अदालतों की भाषा उर्दू है। कोयटे के एक-दो गर्ल्स स्कूलों को छोड़ दिया जाय, तो सब सरकारी स्कूलों में प्रारंभ से उर्दू पढ़ाई जाती है। पाँचवीं और छठी में दो भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं, परंतु सातवीं के बाद एक ही भाषा लेनी पड़ती है। पंजाब में बालिकाओं से हिंदी पढ़ने को सुविधा छीनी जा रही है। वह यहाँ छीन ली गई है। कोयटे के बाहर जो बालिका-विद्यालय हैं, उनमें लड़कियों को भी उर्दू पढ़नी पड़ती है। सिब्बी और लोरालाई आदि में स्थानीय पंचायतों के ऐसे विद्यालय थे, जिनमें बालिकाओं को हिंदी माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा-विभाग ने ऐसी संस्थाओं को अनेक आश्वासन देकर अपनी मुट्ठी में कर लिया है,

और अब कन्याओं को भी बल-पूर्वक उर्दू की शिक्षा दे रहा है। बिलोचिस्तान की राजधानी में दो वर्ष हुए इंटर-मीजिएट कॉलेज खुला है, परंतु संस्कृत और हिंदी के अध्यापक का स्थान अब तक रिक्त है।

सिंध में वर्नाक्यूलर फ़ाइनल की परीक्षा में बैठनेवाले सब विद्यार्थियों के लिये उर्दू अनिवार्य कर दी गई है, और हिंदी स्वीकृत भाषा भी नहीं रही। सरकार हिंदी के किसी स्कूल को सहायता नहीं देती।

बंबई-प्रांत में उर्दू की शिक्षा को कुछ सुविधा दी ही गई है। साथ-ही-साथ सरकारी हिंदुस्तानी बोर्ड भी 'हिंदुस्तानी' ❋ के बंबई-प्रांत में प्रचार के लिये पसीना बहा रहा है। बोर्ड की ओर से 'हिंदुस्तानी' पाठ्य पुस्तकों की व्यवस्था हुई है, और अध्यापकों को शिक्षा देने के लिये एक परीक्षा भी रख दी गई है।

परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाले भाग्यशाली ही 'हिंदुस्तानी' की शिक्षा देने के योग्य समझे जाते हैं। मदरास आदि में हिंदी-प्रचार-सभा को हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा नाम रखने का परामर्श दिया गया है। श्रीसैयद अब्दुल्ला बरेलवी ने इसी सभा के दीक्षांत भाषण में यह भी कह दिया है कि उर्दू ही इस राष्ट्र की भाषा होगी।

❋ यह 'हिंदुस्तानी' 'उर्दू' का ही रूपांतर है, जो बंबई-प्रांत के मुसलमानों की माँग के अनुसार प्रचारित की जा रही है।

बंगाल के मुसलमान भाई भी संस्कृत-निष्ठ बँगला लिखते-बोलते हैं। परंतु वहाँ भी उर्दू ठूँसी जा चुकी है, और 'अंजुमने-तरक्क़िए-उर्दू' की स्थापना हो चुकी है। एक ऐसी ध्वनि भी आई है कि उर्दू तो वह भाषा है, जिससे बंग-भाषा का साहित्य समृद्ध हुआ है। माध्यमिक शिक्षा के लिये जो बिल बना है, उसमें भी उर्दू को ऊपर उठाने की नीति काम कर रही है। उड़ीसा की स्थिति और भी विलक्षण हो गई है। एक प्रतिष्ठित दैनिक पत्र के अनुसार उड़िया और उर्दू उड़ीसा की देशी भाषाएँ मानी गई हैं और यूनिवर्सिटी ने हिंदी माध्यम से शिक्षा देनेवाली संस्थाओं को सहायता देना बंद कर दिया है। बिड़ला-बंधुओं तथा मारवाड़ी समाज के अन्य दानियों की सहायता से संचालित एक कॉलेज से भी हिंदी-शिक्षा की व्यवस्था उठा देनी पड़ी है।

सीता को बेग़म, दशरथ को बादशाह और द्रोणाचार्य को उस्ताद लिखकर जिस 'हिंदुस्तानी' ने 'यश' प्राप्त किया था, और 'माद्री को अपने शौहर के साथ, जल मरनेवाली बना दिया था, बिहार में उसकी होली जलाई जा चुकी है। जन-साक्षरता-समिति कमेटी के फैलाए हुए विष को हलाहल बनाने में जुटी है। यह समिति 'रोशनी' नाम की एक पाक्षिक पत्रिका निकालती है, जिसके आधे पृष्ठ देवनागरी में और आधे फ़ारसी में छपते हैं। बिहार हिंदी-भाषी प्रांत है, यहाँ के वयस्कों को हिंदी में शिक्षा दी जानी चाहिए, परंतु जन-

साक्षरता-समिति फ़ारसी - लिपि और हिंदुस्तानी-भाषा का प्रचार कर रही है। देवनागरी-लिपि को तो उसने यों ही साथ लगा लिया है, इसीलिये फ़ारसी-लिपि के साथ वह भी उस लीथो में छपती है, जिसमें लिपि का सौंदर्य तक नष्ट हो जाता है।

विशुद्ध हिंदी-भाषी संयुक्त प्रांत के संबंध में आपसे क्या कहूँ! हिंदुस्तानी की अधकचरी रीडरें अब तक चल रही हैं, अदालतों में भी उर्दू बैठी है। यही नहीं, हिंदी पढ़नेवाले लड़कों के लिये उर्दू पढ़ना भी अनिवार्य है, और इस वर्ष यह नियम लड़कियों के लिये भी लागू किया गया था। शिक्षा-विभाग जानता था कि उर्दू पढ़नेवालों की संख्या अनुपात में १० प्रतिशत से अधिक नहीं है, फिर भी उसने हाथ घुमाकर नाक पकड़ी। प्रबल विरोध के कारण यह आज्ञा स्थगित हो गई है, परंतु मेरी समझ में नहीं आता कि शिक्षा-विभाग को यह दुष्कर्म करने का साहस कैसे हुआ।"

(३) काश्मीर में हिंदी की समस्या (ले० शांताकुमारी, प्रधान, हिंदी प्रचारिणी सभा, जम्मू, काश्मीर)

(दिसंबर, १६४४)

जम्मू और काश्मीर-राज्य में वैसे तो पाँच भाषाएँ बोली जाती हैं, परंतु मुख्य दो ही हैं—'डोगरी' और 'काश्मीरी'। डोगरी-भाषा जम्मू-प्रांत में बोली जाती है, जो संस्कृत तथा प्राकृत-शब्दों से बनी है, और इसकी पद-रचना भी वैसी ही

है, जैसी पंजाबी की। इस भाषा की अपनी ही लिपि है, जो पंजाबी की गुरुमुखी-लिपि से मिलती है, और इसे देवनागरी का ही एक रूप कहना चाहिए। यह हिंदी-भाषा के इतनी समीप है कि यदि हिंदी को ही इस प्रांत की लोक-भाषा कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं। स्वर्गीय महाराजा गुलाबसिंहजी के राज्य-काल में 'डोगरी' राज्य-भाषा भी रही है।

काश्मीर-प्रांत के लोग काश्मीरी बोलते हैं। इस भाषा की भी अपनी ही लिपि है, जिसको 'शारदा' कहते हैं, जो देव-नागरी का ही एक रूप है। इस लिपि के बहुत-से अक्षरों का रूप डोगरी और गुरुमुखी-अक्षरों से मिलता है। अर्थात् डोगरी, शारदा, गुरुमुखी तथा देवनागरी-लिपियाँ वास्तव में एक ही हैं, और काश्मीरी-भाषा को तो अपभ्रंश संस्कृत ही कहना चाहिए। इस प्रकार जम्मू और काश्मीर-राज्य में केवल हिंदी-भाषा और देवनागरी-लिपि ही राज्य-भाषा तथा शिक्षा का माध्यम बनाए जाने की अधिकारिणी है।

सन् १६०१ की जन-गणना-रिपोर्ट देखने से सहज में ही जाना जा सकता है कि उस समय तक मुसलमान भी अपना हिसाब-किताब डोगरी और देवनागरी-लिपि में ही रखते थे, हिंदी-पठित लोगों की संख्या उर्दू जाननेवालों से कहीं अधिक थी। जम्मू-प्रांत में 'चार सौ' से कुछ कम लोग ही उर्दू पढ़-लिख सकते थे, बाक़ी पढ़े-लिखे लोग हिंदी और डोगरी ही जानते थे। आज भी जम्मू और काश्मीर की हिंदू और

मुसलमान जनता बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से इन भाषाओं को बोलती तथा समझती है। फिर भी काश्मीर-गवर्नमेंट ने यहाँ की राज्य-भाषा अरबी तथा फ़ारसी-शब्दों से ओत-प्रोत उर्दू ही रक्खी है, और शिक्षा का माध्यम भी उर्दू ही नियत किया है, यद्यपि इन भाषाओं के साथ उर्दू का दूर का भी संबंध नहीं, और रियासती जनता के लिये उर्दू उतनी ही कठिन है, जितनी अँगरेज़ी। ऐसी स्थिति में यहाँ पर उर्दू को राज्य-भाषा बनाना किसी दृष्टि से भी न्यायोचित नहीं, और उर्दू को शिक्षा का माध्यम बनाकर काश्मीर-गवर्नमेंट ने उन अबोध बच्चों के साथ घोर अन्याय किया है, जिनके कोमल मस्तिष्क प्रारंभ में ही किसी अपरिचित भाषा के कठिन शब्दों को सहन करने योग्य नहीं हो सकते।

इन्हीं कठिनाइयों को अनुभव करते हुए कई वर्षों से यह माँग की जा रही है कि हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय। सभाओं, समाचार-पत्रों और एसेंबली में प्रस्तावों द्वारा कई बार काश्मीर-गवर्नमेंट का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया, परंतु कुछ समय तक काश्मीर-सरकार के दीर्घ मौनावलंबन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अंत में इस बढ़ते हुए आंदोलन को देखकर गवर्नमेंट ने सन् १९३९ ई० में एक शिक्षा-पुनर्गठन-समिति की स्थापना की, जो शिक्षा-संबंधी अन्य बातों के अतिरिक्त इस बात का भी निर्णय करे कि शिक्षा का माध्यम कौन-सी भाषा होनी चाहिए। इस

समिति के प्रधान काश्मीर-शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर (गुलाम सैयदैन) महोदय बनाए गए।

पूरे छै ःमहीने बाद उक्त समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा—

प्राथमिक शिक्षा (जो प्रथम सात वर्ष तक जारी रहे) का माध्यम उर्दू हो, क्योंकि—

(क) उर्दू रियासत में आम बोली और समझी जाती है।

(ख) उर्दू रियासत में प्रचलित उप-भाषाओं में से डोगरी, लैंहदा, पंजाबी, पहाड़ी और गुजरी से मिलती-जुलती भाषा है, और आम रियासत की आधी आबादी की मातृभाषा है।

(ग) उर्दू बहुत विकसित और प्रगतिशील भाषा है।

(घ) रियासत की उप-भाषाओं का विकास नहीं हो पाया, और उनकी आपस की भिन्नता शिक्षा की एकता भंग करती है, अतः इनके स्थान पर उर्दू ही प्रचलित होनी उचित है।

(ङ) काश्मीरी मुसलमान उर्दू को माध्यम बनाना चाहते हैं।

(च) यह सरकारी कार्यालयों और कचहरियों में बरती जाती है।

(छ) उर्दू-भाषा-भाषी सहस्रों यात्री प्रतिवर्ष काश्मीर आते हैं। वे इसके प्रचार में सहायक होंगे, और उनको इसके प्रचार से सुविधा होगी।

(ज) रियासत की भिन्न-भिन्न भाषाओं को उर्दू ही एकता

के सूत्र में बाँध सकती है, और रियासत को शेष भारत के साथ भी यही भाषा जोड़ सकती है।

(भ) यह भाषा स्कूलों में प्रथम ही प्रचलित है।

लिपि के संबंध में भी आप लिखते हैं—"केवल फ़ारसी-लिपि का ही प्रयोग होना चाहिए। क्योंकि दो लिपियों का प्रयोग रियासत के लोगों को दो ऐसे भागों में विभक्त कर देगा कि वे एक दूसरे से दूर ही होते जायँगे, और कभी मिलकर एक न हो सकेंगे।"

शिक्षा-पुनर्गठन-समिति के इस अन्याय से जनता चीख उठी, प्रजा-सभा में भी प्रस्ताव उपस्थित हुए, प्रेस और प्लेटफ़ार्म द्वारा इस रिपोर्ट का घोर विरोध किया गया, और काश्मीर-गवर्नमेंट से माँग की गई कि इस रिपोर्ट को वापस लिया जाय। सन् १९४० में उक्त रिपोर्ट में संशोधन करते हुए काश्मीर-सरकार ने निम्न-लिखित आज्ञाएँ प्रकाशित कीं—

(१) शिक्षा का माध्यम 'सरल उर्दू' होगा, और उसके लिये देवनागरी तथा पर्शियन दोनो लिपियाँ प्रयोग में लाई जायँगी।

(२) राज्य की ओर से सब प्राइमरी स्कूलों में—जहाँ देवनागरी पढ़नेवाले छात्रों की संख्या १५ प्रतिशत या इससे अधिक हो—दोनो लिपियों में पढ़ाने का प्रबंध किया जाएगा, और सब विषयों की पाठ्य पुस्तकें दोनो लिपियों में छपाई जायँगी।

भाषी व्यक्ति के लिये मराठी पढ़ना आवश्यक है, उसी प्रकार हिंदी-उर्दू-प्रदेश में प्रत्येक शासन-क्षेत्र में जो भी प्रमुख हो, उसे अदालती और सरकारी भाषा बनाना चाहिए, और उसका पठन-पाठन प्रथम या द्वितीय भाषा के रूप में सबके लिये अनिवार्य होना चाहिए।

राष्ट्र-भाषा

राष्ट्र-भारत की समस्या एक अनोखे भारत की समस्या नहीं है। संसार में और भी बहु-भाषी देश हैं। उन्होंने इस समस्या का हल अपने-अपने देश की प्रमुख, परंपरा-युक्त साहित्यिक भाषाओं में से एक को राष्ट्र-भाषा के रूप में अपनाकर किया है। उदाहरण के लिये आधुनिक रूस को लीजिए, जहाँ कई भाषाएँ बोली जाती हैं, परंतु रशियन राष्ट्र-भाषा या कामन-भाषा है, और देश-भर में द्वितीय भाषा के रूप में उसका पठन-पाठन अनिवार्य है। हमें राष्ट्र-भाषा का स्थान हिंदी को देना चाहिए। समस्या के सब पहलुओं पर विचार करने के बाद प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डॉ० सुनीति-कुमार चटर्जी अपनी 'लैंगुएज ऐंड दि लिंगुइस्टिक प्राबलेम'-नामक पुस्तिका में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—"भारत की भाषा-विषयक मुख्य समस्या का प्रस्तावित हल यह है—भारत की राष्ट्र-भाषा सरल की हुई हिंदी या हिंदुस्तानी होनी चाहिए, जो नागरी-लिपि की भाँति तरतीब दी हुई रोमन-

लिपि में लिखी जाय, जिसमें अरबी-फारसी के सब घुले-मिले शब्दों को स्थान दिया जाय, जिसका दरवाजा इस्लाम से संबंधित विशिष्ट प्रकरणों में अरबी-फारसी के नवीन शब्दों के लिये खुला रहे, परंतु जो ऐसे सभी आवश्यक शब्दों के लिये, जो हिंदी के देशज धातुओं से नहीं बनाए जा सकते या जो अँगरेज़ी से आसानी के साथ उधार नहीं लिए जा सकते, स्पष्ट रूप से संस्कृत पर अवलंबित हो।" * सरल की हुई हिंदी से उनका अभिप्राय खड़ी बोली के व्याकरण को सरल करने से है, परंतु यह एक ऐसी बात है, जो अव्यावहारिक है, और जिससे हिंदी और उर्दू दोनो के ही लेखक

---

*"The proposed solution for the main linguistic problem of India is therefore this : the national language of India should be a simplified Hindi or Hindustani written in a modified Roman alphabet arranged like the Nagri alphabet, retaining all naturalised Persian and Arabic words and admitting fresh vocables from those sources in specific Islamic contexts, but with a frank affliation to Sanskrit for necessary words which cannot be created out of native Hindi elements or conveniently borrowed from English."['Languages and the Linguistic Problem' by Dr. S. K. Chattreji, p. 31.]

सहमत न होंगे। लिपि के विषय में डॉ० चटर्जी को स्वयं कहना पड़ा है कि "संभव है, एक नई, विदेशी लिपि के विरुद्ध भावना इतनी तीव्र हो कि उसका अपनाना—कम-से-कम कुछ समय के लिये तो अवश्य ही—कठिन हो जाय। रोमन-लिपि अस्वीकृत होने पर राष्ट्र-लिपि की समस्या का सबसे उत्तम हल भारत की सबसे अधिक प्रचलित लिपि देवनागरी होगा।"* व्याकरण और लिपिवाली दो बातों को छोड़कर डॉ० चटर्जी द्वारा प्रस्तावित भाषा में और आधुनिक हिंदी (देवनागरी में लिखित) में कोई अंतर नहीं है, क्योंकि डॉ० चटर्जी के ही शब्दों में—"यद्यपि साहित्यिक हिंदी में अरबी-फ़ारसी के घुले-मिले शब्द निर्विरोध आते हैं, उर्दू की आम प्रवृत्ति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो संस्कृत, जो ख़ुद उर्दू की दादी या मौसेरी दादी है, और प्राचीन युग की महान्, मौलिक-साहित्य-युक्त तीन भाषाओं (संस्कृत, ग्रीक

---

* "But sentiment against a fresh, foreign alphabet may be too strong, at least for some time. Failing the Roman script the next best solution for a pan Indian Hindustani would be the Nagri as the most widely used script of India"

(रोमन लिपि के विषय में दूसरे भाग में इस विषय का लेख देखिए।)

और चीनी) में से एक है, हिंदुस्तान में कभी थी ही नहीं।"* डॉ० चटर्जी आगे फिर कहते हैं—"संपूर्ण राष्ट्र को एक ऐसी भाषा मानने के लिये, जो संस्कृत की उपेक्षा करती है और गंभीर शब्दावली के लिये फ़ारस और अरब का मुँह ताकती है, तैयार करना कठिन होगा।" † अतः हमें हिंदी को अपनाकर आगे बढ़ना चाहिए। अगर हिंदी अनावश्यक रूप से संस्कृत-निष्ठ है, या इसमें किसी और प्रकार की त्रुटि है, तो ये दोष ज्यों-ज्यों हिंदी अखिल भारतीय व्यवहार में भारत के विभिन्न संप्रदायों द्वारा प्रयुक्त होगी, त्यों-त्यों अपने आप धीरे-धीरे दूर हो जायँगे। यदि इस हल के विरुद्ध किसी को यह आपत्ति है कि मुसलमान इसे स्वीकार

---

* "Although High-Hindi uses freely all naturalised Perso-Arabic words, Urdu generally behaves as if Sanskrit, its own grand-mother or grand-aunt and one of the three great languages of the ancient world with original literatures (Sanskrit, Greek and Chinese), did not exist in India." [Languages and the Linguistic Problem, p. 29]

† "It would be difficult to persuade the entire Indian people to accept a language which ignores Sanskrit and goes to Persia and Arabia for its words of higher culture."

नहीं करेंगे, तो फिर पहले हम उस राष्ट्र के विषय में ही निश्चित हो लें, जिसके लिये राष्ट्र-भाषा की ज़रूरत है। किसी भी राष्ट्रीय चीज़ को बनाने के लिये राष्ट्रीय भावना पहले होनी चाहिए। राष्ट्रीय भावना के अभाव में, अगर हमारे पास शुरू-शुरू में एक 'कामन'-भाषा हो, तो भी वह दो खंडों में विभक्त हो जायगी। (उदाहरण के लिये, जैसा पहले कहा जा चुका है, आज बंगाल में ऐसा हो रहा है)। उल्टी गंगा नहीं बहाई जा सकती। राष्ट्रीय क्या है, यह भारतीय मुसलमान तुर्की के अपने सहधर्मियों से सीख सकते हैं, जो अपनी भाषा में से अनावश्यक अरबी-फ़ारसी शब्दों का बहिष्कार कर रहे हैं, या फ़ारस के अपने सहधर्मियों से सीख सकते हैं, जो विदेशी अरबी-शब्दों का स्थान ग्रहण करने के लिये अपने प्राचीन आर्य-शब्दों को पुनर्जीवित कर रहे हैं। हम भारतीय जान-बूझकर ऐसे एक भी शब्द को, जो हमें भारतीय भांडार से मिल सकता है, लेने अरब और फ़ारस नहीं जा सकते। संस्कृत-शब्दों का समर्थन केवल इसलिये नहीं किया जा रहा है कि संस्कृत भारतीय है, और कभी भारत में थी (चाहे वह जनता की बोलचाल की भाषा थी या नहीं), वरन् इसलिये कि संस्कृत के शब्द आज भी आधुनिक भारतीय भाषाओं में जीवित हैं, जो भारत के हिंदुओं और मुसलमानों की बोलचाल की और साहित्यिक भाषाएँ हैं*। अगर भारतीय मुसलमान उर्दू का भारतीय-

करण नहीं कर सकते, तो कम-से-कम वे हिंदी को राष्ट्र-भाषा के रूप में अवश्य स्वीकार कर सकते हैं—उसी प्रकार, जिस प्रकार रूस के मुसलमानों ने रूसी-भाषा को अपनी राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है। अगर बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिण के मुसलमानों की संस्कृति उनकी मातृभाषाओं में संस्कृत-शब्द होने के कारण नष्ट नहीं हो गई, तो राष्ट्र-भाषा हिंदी के संस्कृत-शब्दों के कारण ही मुसलमानों की संस्कृति पर कौन-सी आफ़त आ जायगी? यह तो केवल अधिक-से-अधिक व्यक्तियों की अधिक-से-अधिक सुविधा का सवाल है।

भारत की 'कामन' भाषा हिंदी किसी प्रांतीय भाषा को, जिसमें उर्दू भी शामिल है, नहीं निकालेगी। उर्दू के विरुद्ध कोई नहीं है। उर्दू के अलावा देश में और भी भाषाएँ हैं, और हम तो यह चाहते हैं कि प्रत्येक भारतीय जितनी भी भारतीय भाषाएँ सीख सके, उतनी सीखे। परंतु इस बात का कामन भाषा हिंदी के प्रचार से कोई संबंध नहीं होना चाहिए।

राष्ट्र-लिपि

'कामन' भाषा की एक 'कामन' लिपि होनी चाहिए।

---

* देखिए दूसरे भाग में 'गांधीजी और हिंदुस्तानी'-शीर्षक लेख।

अगर भाषा को एक रखना है, तो एक ही लिपि रखना भी अनिवार्य है। यह बात हिंदी और उर्दू के प्रकरण में पहले भली भाँति स्पष्ट की जा चुकी है। जिस प्रकार दोनो लिपियों के रहते तीसरी शैली 'हिंदुस्तानी' का उद्भव नहीं हो सकता, उसी प्रकार यदि कामन भाषा या शैली बन भी गई, तो वह दोनो लिपियों के रक्खे जाने पर अखंड न रह सकेगी (अगर कामन शैली के साथ-साथ हिंदी और उर्दू, निःसंदेह अपनी-अपनी लिपियों में लिखित भी रहती हैं, तो उसका अखंड रहना और भी कठिन है)। अगर कामन भाषा हिंदी ही हो, पर दोनो लिपियाँ उसके लिये मान्य हों, तो वह भी अखंड न रह सकेगी, और वास्तविक हिंदी और उर्दू में विभक्त हो जायगी, इस कारण और भी कि उर्दू-लिपि में साथ-ही-साथ उर्दू भी लिखी जायगी। वर्धा-कॉन्फ्रेंस में सम्मिलित विद्वानों ने इस तत्त्व को नहीं समझा, ऐसा मालूम होता है।

कामन भाषा के लिये दोनो लिपियाँ रखने का कोई कारण या आवश्यकता भी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो लिपियों की बात के पीछे सांप्रदायिक कारण हैं, पर सांप्रदायिकता के आधार पर विचार करने से किसी राष्ट्रीय चीज़ का निर्माण नहीं हो सकता। भाषा के मामले में तो सांप्रदायिक कारणों से प्रेरित होकर दोनो लिपियाँ रखना अपने अभीष्ट अर्थात् एक कामन भाषा के विकास और प्रचार की सिद्धि में ही बाधक है। फिर, यदि सांप्रदायिक

कारणों को शह दी जाती है, तो केवल दो लिपियों—देवनागरी और उर्दू—पर मामला नहीं निपटेगा। सिक्ख कामन भाषा के लिये गुरमुखी मान्य होने की माँग कर सकते हैं, भारतीय ईसाई रोमन-लिपि की माँग कर सकते हैं, जो आज भी सरकारी और ग़ैर-सरकारी रूप से धड़ल्ले के साथ 'हिंदुस्तानी' के लिये व्यवहृत हो रही है, और बंगाली न्याय की दुहाई देकर बँगला-लिपि की माँग कर सकते हैं, जो ३ करोड़ मुसलमानों और २½ करोड़ हिंदुओं की लिपि है। इन सब माँगों और झगड़ों का कहाँ अंत होगा?

राष्ट्र-भाषा-ज्ञान के इच्छुकों के लिये दोनो लिपियाँ सीखना अनिवार्य होने से छात्रों पर व्यर्थ का बोझा भी पड़ेगा, उनका उत्साह भंग होगा, और समय, शक्ति तथा धन का व्यर्थ नाश होगा। देश अत्यंत निर्धन और निरक्षर है। अधिकांश व्यक्तियों को तो एक लिपि भी भली भाँति सीखने के लिये समय न मिलेगा।

कामन भाषा में भारत-जैसे महान् देश का जो सरकारी कारोबार होगा तथा प्रकाशन छपेगा (उदाहरण के लिये, केंद्रीय सरकार का काम), उसमें दोनो लिपियों के कारण जो असुविधा होगी, बेकार की मेहनत पड़ेगी तथा समय, शक्ति और धन का अपव्यय होगा, उसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। फिर सोचिए, कामन भाषा में जो पुस्तकें तथा समाचार-पत्र पूरे देश के लिये छपेंगे, उनकी

क्या स्थिति होगी। अगर आज अँगरेज़ी की, जो इस समय देश की सांस्कृतिक भाषा बनी हुई है, और जिसके स्थान में हम 'कामन' भाषा को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, दो लिपियाँ—मान लीजिए, रोमन और देवनागरी—कर दी जायँ, तो कैसी विकट परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिये, चाहे वह दोनो लिपियाँ जानता हो, सदा उनमें से एक का दूसरी की अपेक्षा अधिक महत्त्व होगा। वह उसी में लिखेगा, और उसी में पढ़ना चाहेगा। (यह लिपि का विभाजन बहुत कुछ संप्रदाय या हिंदी और उर्दू के समर्थकों या प्रेमियों के आधार पर होगा)। युक्त प्रांत में, जहाँ स्कूलों में आठवीं कक्षा तक हिंदी और उर्दू तथा हिंदी और उर्दू-लिपियाँ अनिवार्य विषय करने से स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है, जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उससे इस बात की पुष्टि हो जाती है। देवनागरी में लिखित 'कामन' भाषा और उर्दू-लिपि में लिखित 'कामन' भाषा पर लिपि-भेद के कारण भिन्नता की मुहर लग जायगी (यदि कामन भाषा के अलावा हिंदी और उर्दू, निःसंदेह अपनी-अपनी लिपि में लिखित, भी साथ-साथ रहीं, तब ऐसा और भी होगा), उनको हिंदी और उर्दू नाम से संबोधित करना पड़ेगा, और भाषा के, यदि आरंभ में वह एक है तो भी, दो खंड हो जायँगे। हम घम-फिरकर उसी स्थान पर आ जायँगे, जहाँ से चले थे।

तर्क की अति करने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में, दोनो लिपियों के मान्य होने के पक्ष में कोई तर्क नहीं, परंतु केवल एक लिपि क्यों रक्खी जाय, इसकी बहुत ज़बरदस्त वजह है। केवल एक लिपि का होना सब प्रकार से अभीष्ट ही नहीं, वरन् वह शर्त है, जिसके बिना एक राष्ट्र-भाषा न बन सकती है, न रह सकती है। केवल 'एक लिपि' की नींव पर एक 'कामन' भाषा का ढाँचा खड़ा किया जा सकता है, और ठहर सकता है। केवल 'एक लिपि' ही भाषा को संप्रदाय-भेद-विहीन एकरूपता दे सकती है, और उसे सब संप्रदायों तथा वर्गों के निकट एक बना सकती है। केवल एक कामन लिपि के माध्यम से ही कामन भाषा, उर्दू तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के आवश्यक शब्दों, धातुओं इत्यादि को अपने में हज़म कर सकती है, और एक कामन लिपि का ही वह मंच है, जिस पर भारत के विभिन्न संप्रदायों के उनके अपने-अपने विशिष्ट सांस्कृतिक जीवन से संबंधित शब्द सबके लिये परिचित बन सकते हैं। यद्यपि आरंभ में सरकारी कामन भाषा का एक निश्चित स्वरूप या शैली (आधुनिक हिंदी) होगी, जनता शब्दों के प्रयोग के मामले में एक हद तक स्वतंत्र होगी, और अगर लिपि एक है, तो सबसे अधिक बोधगम्यता का सिद्धांत अपने आप शब्दों के चुनाव के मामले को अंतिम रूप से तय कर देगा, और भाषा के स्वरूप को उचित दिशा में ढाल देगा। लेकिन,

अगर हम 'एक लिपि' के सिद्धांत को छोड़ते हैं, तो हमें एक कामन राष्ट्र-भाषा की आशा को ही सदा के लिये त्याग देना चाहिए। सारे क़िस्से का लुब्बे लुबाब यही है।

यहाँ यह दिखलाने के लिये कोई तर्क देने की ज़रूरत नहीं कि यह 'एक लिपि' देवनागरी ही हो सकती है। उर्दू-लिपि के मुक़ाबले में देवनागरी के ज़बर्दस्त दावे पर पहले विचार किया जा चुका है।

देवनागरी उर्दू-लिपि या किसी अन्य प्रांतीय लिपि का स्थान नहीं लेगी। उर्दू-लिपि में पहले की भाँति उर्दू लिखी जाती रहेगी। उर्दू-लिपि सीखने के विरुद्ध कोई नहीं है। उर्दू-लिपि के अलावा देश में और भी लिपियाँ हैं, और हम तो यह चाहते हैं कि प्रत्येक भारतीय जितनी भी भारतीय लिपियाँ सीख सके, उतनी सीखे। परंतु इसका कामन भाषा या कामन लिपि देवनागरी में कामन भाषा के प्रचार से कोई संबंध नहीं होना चाहिए।

राष्ट्र-भाषा की समस्या का हल

अतः राष्ट्र-भाषा की समस्या का समाधान यह है—सरल हिंदी को हिंदी-लिपि अर्थात् देवनागरी में प्रचारित किया जाय, परंतु जहाँ एक ओर लिपिवाली बात का कड़ाई के साथ पालन हो, वहाँ दूसरी ओर विभिन्न लेखकों (तथा वक्ताओं) को शब्द-प्रयोग के मामले में थोड़ी-सी

स्वतंत्रता दे दी जाय। इस कामन भाषा का नाम हिंदी ही हो सकता है, हिंदुस्तानी कदापि नहीं। नाम का प्रभाव अत्यंत व्यापक होता है, और इतिहास में प्रायः नाम ने ही मामलों का वारा-न्यारा किया है। 'हिंदी' नाम ही कामन भाषा का स्वरूप सबकी आँखों के सामने ला खड़ा कर सकता है, और उसका संबंध मध्य-देश की उस प्राचीन भाषा से स्थापित कर सकता है, जिसकी परंपरा एक हज़ार वर्ष पुरानी है, और जो आज तक 'हिंदी' नाम से पुकारी जाती रही और पुकारी जा रही है।

समस्या पर निष्पक्ष होकर और यथार्थ को ध्यान में रखकर विचारने से यह हल निकलता है। इसमें सांप्रदायिक विचारों के लिये कोई गुंजाइश नहीं। गांधीजी से तथा हिंदुस्तानी के अन्य समर्थकों से साग्रह अनुरोध है कि वे इस पर तर्क-बुद्धि से गंभीरता-पूर्वक विचार करें, और यदि उनको यह संतोष हो जाय कि यही वैज्ञानिक, राष्ट्रीय और व्यावहारिक हल है, तो वे मुसलमानों और उर्दूवालों के कट्टर विरोध के बावजूद इसे क्रियान्वित करने में न हिचकें। चूँकि समस्या का यही एक मुमकिन हल है, किसी-न-किसी दिन इसे सब स्वीकार कर लेंगे। गांधीजी का प्रभाव उस दिन को निकट ला सकता है। किंतु यदि गांधीजी और हिंदुस्तानीवाले अवसरवादिता का अनुसरण करेंगे, और कुछ लेखकों या कुछ मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के

लिये किसी क़िस्म की हिंदुस्तानी गढ़ने का प्रयत्न करेंगे, तो उनका सारा प्रयास व्यर्थ जायगा। सच्चे सिद्धांतों पर आरूढ़ रहने से सफलता मिलने में देर हो सकती है, परंतु उनको त्याग देने से सफलता कभी प्राप्त ही न होगी।

11

'हिंदुस्तानी' के समर्थकों से कुछ प्रश्न

'हिंदुस्तानी' के जो पक्षपाती ऊपरवाले हल से संतुष्ट नहीं होते हैं, अर्थात् अन्य बहुभाषी देशों की भाँति भारत की वर्तमान, प्रचलित, उन्नत साहित्यिक भाषाओं में से एक को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिये तैयार नहीं हैं, और कामन भाषा के लिये एक नवीन शैली 'हिंदुस्तानी' गढ़ना ही चाहते हैं; उनसे हम यह पूछना चाहेंगे कि वे किस तर्क के अनुसार इसे केवल हिंदी और उर्दू में से प्रकट करना चाहते हैं? राष्ट्र-भाषा या कामन भाषा पूरे राष्ट्र के लिये है, और राष्ट्र में हिंदी और उर्दू के अलावा और भी अति उन्नत देशी भाषाएँ हैं। उन्हें क्यों छोड़ दिया जाता है? अगर कामन भाषा के लिये केवल हिंदी और उर्दू 'फ़ीडर' इसलिये बनाई जाती हैं कि ये दोनो एक ही भाषा 'हिंदुस्तानी' को दो 'शैलियाँ' हैं, तो एक तीसरी 'शैली' 'बाबू हिंदुस्तानी' भी तो है, जिसको हिंदू और मुसलमान एक समान बोलते और समझते हैं, अर्थात् जो अब भी कामन भाषा हिंदुस्तानी बनी-बनाई मौजूद है, और जिसकी साहित्यिक क्षमता हिंदी या उर्दू

की क्षमता से या दोनो की सम्मिलित क्षमता से कहीं अधिक है, क्योंकि यह आवश्यक शब्दों के लिये (प्रायः अनावश्यक शब्दों के लिये भी) अँगरेज़ी पर अवलंबित है। 'हिंदुस्तानी' की इस तीसरी शैली को क्यों छोड़ दिया जाता है ? वास्तव में देश में इस समय जो लोग ऐसे हैं कि किसी भी प्रकार की साहित्यिक 'हिंदुस्तानी' की, जो इस समय मौजूद है या बनाई जायगी, गंभीर संस्कृत-शब्दावली या अरबी-फ़ारसी-शब्दावली या आधी संस्कृत और आधी अरबी-फ़ारसी-शब्दावली को समझ सकते हैं, उनमें से एक भी ऐसा नहीं जो 'बाबू हिंदुस्तानी' की गंभीर अँगरेज़ी-शब्दावली न समझता हो। आज तक हमारे देखने में ऐसा कोई आदमी नहीं आया, जो 'दशमलव' या 'आशार्या' जानता हो, लेकिन 'डेसीमल' न जानता हो। जहाँ 'दशमलव' या 'आशार्या' बोला जा सकता है, या जो लोग 'दशमलव' या 'आशार्या' बोल सकते हैं, वे न 'दशमलव' बोलते हैं, न 'आशार्या', बल्कि 'डेसीमल' बोलते हैं। यही हाल 'हिंदुस्तानी' के अधिकांश गंभीर शब्दों का है। 'बाबू हिंदुस्तानी' के अँगरेज़ी शब्द देश में समान रूप से व्याप्त हैं, और फिर आधी दुनिया इन्हें समझती है। सारांश यह कि राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी के लिये हिंदी, उर्दू और 'बाबू हिंदुस्तानी', तीनो को 'फ़ीडर' मानकर उसे गढ़ने की ज़रूरत भी नहीं, वह सच्चे अर्थों में कामन भाषा 'बाबू हिंदुस्तानी' बनी-बनाई